कृष्णं योगेश्वर वन्दे वन्दे योगीश्वरं शिवम्

# योग विज्ञान

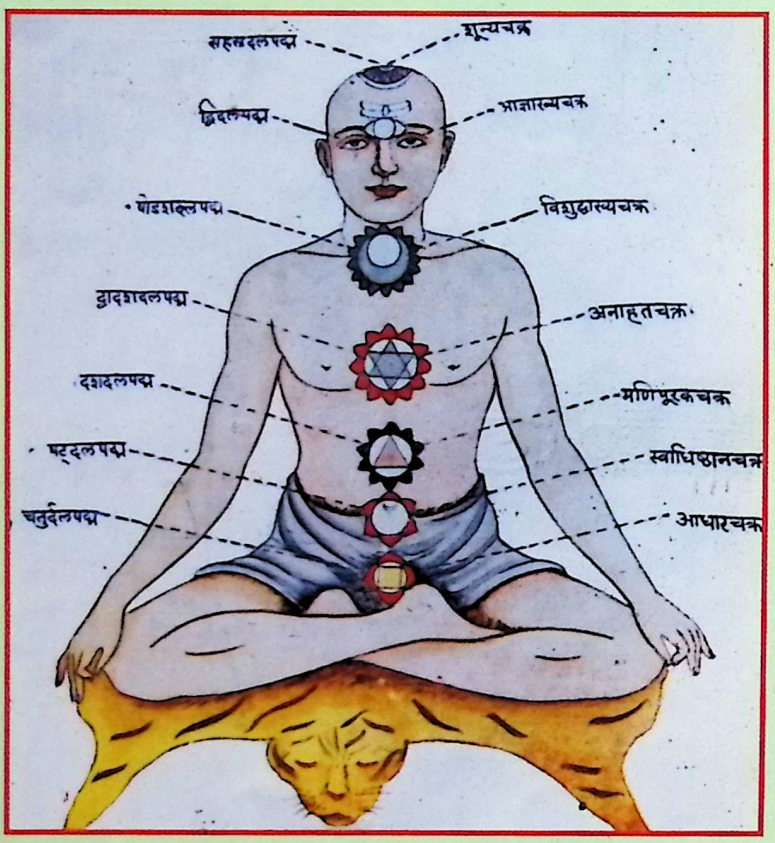


21 अप्रैल, 2002

ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय:

# समर्पण

परमाराध्य सद्गुरूदेव

योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

को सादर समर्पित

श्रद्धा सुमन

# योग विज्ञान

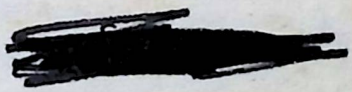

श्री रामनवमी

21 अप्रैल, 2002

सर्वाधिकार लेखक के आधीन सुरक्षित

लेखक : पं. पूर्णचन्द्र पन्त "शास्त्री"
2915/11, कच्चा टैंक
नाहन-173001 (हि0प्र0)
फोन : 01702-224745

प्रकाशक : पं. पूर्णचन्द्र पन्त "शास्त्री"
2915/11, कच्चा टैंक
नाहन-173001 (हि0प्र0)
फोन : 01702-224745

मुद्रक : राज प्रिंटिंग कम्पनी,
158, डी.एस.डी.आई.सी. शेड,
ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेस-1
नई दिल्ली-110020
दूरभाष: 51616491, 51709376, 51610815

प्रथम संस्करण : अप्रैल 2002

संशोधित और परिवर्धित दूसरा संस्करण - अक्टूबर 2003

मूल्य : 100/-

# 'आशीर्वचन'

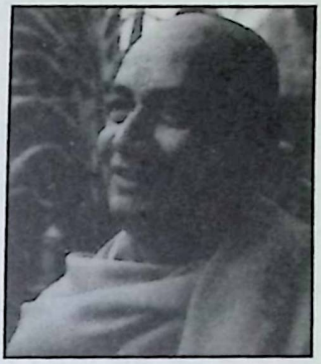

योग हमारे ऋषियों की अमर देन है । यह विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसे अच्छी प्रकार से समझ कर और जीवन में उतार कर मनुष्य नर से नारायण अथवा पशु से पशुपति बन सकता है । वेदों में, वेदान्त में एवं धर्म-शास्त्रों मे सर्वत्र ही योग विद्या की महिमा का मुक्त कंठ से गान किया गया है । योग विद्या आध्यात्मिकता का प्राण है और धर्म का सार है । योग को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताते हुए प्रातःस्मरणीय याज्ञवल्क्य जी महाराज ने धर्मशास्त्र में यहां तक लिख दिया है -

**'एष हि परमो धर्मः यद्योगेनात्मनिरीक्षणम् ।'**

अर्थात् योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेना (अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेना) ही सबसे बड़ा धर्म है । महर्षि व्यासदेव जी महाराज ने श्रीमद् भागवत पुराण में कहा है :-

**'दानं स्वधर्मो नियमोयमश्च, श्रुतं च कर्माणि सद्व्रतानि ।**
**सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः, परो हि योगो मनस समाधिः ।।'**

यह बड़े हर्ष का विषय है कि श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री ने समस्त आध्यात्मिक ग्रंथों का मन्थन करके ''योग विज्ञान'' शीर्षक पर एक ऐसी पुस्तक की रचना की है जो कि दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों, योगसाधकों, साधारण गृहस्थियों एवं संन्यासियों सबके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है । पुस्तक का आकर छोटा होने पर भी इसमें गागर में सागर की भाँति सभी आध्यात्मिक रहस्य संजोकर रखे हैं।

पुस्तक का सिंहावलोकन करने से पता चलता है कि लेखक योग के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों पक्षों के ज्ञाता हैं । उन्होंने जो कुछ लिखा है वह न केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर लिखा है बल्कि अपने अनुभव के आधार पर भी लिखा है । इसके लिये प्रिय शास्त्री जी बधाई के पात्र हैं । मैं आशा करता हूं कि विद्वद् समाज प्रस्तुत पुस्तक को समुचित आदर देगा । श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री जी को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे अपने पवित्र उद्देश्य में सफल मनोरथ हों ।

ॐ शान्तिः ।

स्वामी सत्यमित्रानन्द ॐ

निवर्तमान शंकराचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी सत्यमित्रानन्द जी महाराज,
संस्थापक एवं संरक्षक - भारतमाता मन्दिर, हरिद्वार ।

# नम्र निवेदन

आज से लगभग 30 वर्ष पूर्व जून 1972 में मुझे एक परिपूर्ण सिद्ध, योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के प्रथम दर्शन एवं उनसे विधि वत् योगदीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । तब से लेकर जून 1990 तक उनके पावन सान्निध्य में रहते हुए मैंने उनसे जो कुछ सीखा और जो कुछ अनुभव किया उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है । इस रचना में उरप्रेरक श्री सद्गुरूदेव जी परोक्ष रूप से मेरे सहायक बने रहे और उनकी अहैतुकी कृपा के फल स्वरूप ही आज मैं ''योगविज्ञान'' शीर्षक पर यह नवीनतम रचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल हो सका हूँ ।

इस छोटी सी पुस्तक में योगविज्ञान के लगभग सभी सिद्धान्तों को साररूप में समझाने का प्रयास किया गया है और योग के सभी अंगों उपांगों और अन्तर्विभागों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक सर्वसाधारण के लिये उपयोगी होने के साथ साथ योग और वेदान्त के विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी रहेगी तथा अध्यात्म मार्ग में रूचि रखने वाले सभी जिज्ञासुओं और साधकों का चाहे वे किसी भी मत के अनुयायी हों, किसी भी सम्प्रदाय में दीक्षित हों मार्ग दर्शन करेगी और उनकी साधना में सहायक सिद्ध होगी ।

योग एक अत्यन्त गहन विषय है । अतः उसके यथार्थ विवेचन में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है ।

विज्ञ पाठकों एवं अनुभवी योगाचार्य महानुभावों से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे उन त्रुटियों के विषय में लेखक को अवगत कराते हुए तत्सम्बन्धी उपयुक्त सुझाव देने की कृपा करें । ताकि अगले संस्करण के लिये पुस्तक में आवश्यक संशोधन किया जा सके ।

गीताप्रेस गारेखपुर के कल्याण कार्यालय की स्वीकृति से उनके कल्याण दशम वर्ष के 'योगाङ्क' से षट्चक्रों का चित्र टाइटल के रूप में पुस्तक में लगाया गया है उनके इस उदारतापूर्ण सहयोग के लिये मैं उनका हार्दिक आभारी हूँ। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्री रामनवमी
21 अप्रैल, 2002

योगेश्वरों की चरणरजः
पूर्णचन्द्र पन्त

# विषय सूची

## (भाग 1)
## (साधन योग)


अध्याय 1 सुखी जीवन का रहस्य योग 1

अध्याय 2 योग क्या ? 6

अध्याय 3 जीवात्मा और परमात्मा 11

अध्याय 4 योग और आरोग्य 19

अध्याय 5 अष्टांग योग 30

(क) यम
(ख) नियम
(ग) आसन
(ड) प्रणायाम
(च) प्रत्याहार
(छ) धारणा
(ज) ध्यान
(झ) समाधि

अध्याय 6 ध्यानयोग में सहायक कुछ महत्वपूर्ण साधन 49

(क) मौन
(ख) गुरू भक्ति
(ग) श्रद्धा
(घ) सत्संग एवं संकीर्तन
(ड) सरलता, नियमानुवर्तिता एवं आहार शुद्धि
(च) रोग-द्वेष, अहंकार, शरीर में ममता एवं कामनाओं का त्याग

(भाग-2)

(वेदान्त एवं सिद्धयोग (सहजयोग))


| | | |
|---|---|---|
| अध्याय 7 | उपनिषदों की रहस्यमयी योगविद्या | 65 |
| अध्याय 8 | आत्म तत्व एवं यम-नचिकेता संवाद | 71 |
| अध्याय 9 | ध्यानयोग की महत्ता | 83 |
| अध्याय 10 | मंत्रयोग विज्ञान | 91 |
| अध्याय 11 | संकल्पशक्ति | 98 |
| अध्याय 12 | चित्त शुद्धि एवं समाधि | 105 |
| अध्याय 13 | कर्मकाण्ड एवं योग | 113 |
| अध्याय 14 | योगमार्ग एवं सद्गुरूसत्ता | 121 |
| अध्याय 15 | नाड़ीशुद्धि एवं कुण्डलिनी जागरण | 133 |
| अध्याय 16 | योगशिखोपनिषद एवं सिद्धयोग | 140 |
| अध्याय 17 | षट्चक्र (शरीर स्थित सूक्ष्म शक्तिकेन्द्र) एवं हंसयोग विज्ञान | 148 |
| अध्याय 18 | मोक्ष का स्वरूप | 158 |


(भाग-3)

(वेदान्त एवं सिद्धयोग (सहजयोग))


| | | |
|---|---|---|
| अध्याय 19 | गीता योगसुधा | 170 |
| अध्याय 20 | कर्मयोग का वास्तविक स्वरूप | 190 |
| अध्याय 21 | रामायण में योग | 200 |
| अध्याय 22 | कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बातें | 210 |
| अध्याय 23 | उपसंहार | 213 |

(अध्याय १)

# सुखी जीवन का रहस्य – योग

परमेश्वर की सृष्टि में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसमें सुख की चाह न हो। प्रत्येक प्राणी उसी ओर आकर्षित होता है, जहाँ उसे सुख की प्रतीति हो । बुद्धिबल का धनी होने के कारण मनुष्य विशेष रूप से अनादिकाल से ही सुख की तलाश में रहा है । सुख की प्राप्ति के लिए ही उसने तरह – तरह की विद्यायें सीखी, विविध खोजें की, कई प्रकार के आश्चर्यजनक आविष्कार किये, तरह – तरह के साधन जुटा लिये, अपार धन सम्पत्ति एकत्रित कर ली, साधनहीन व्यक्तियों पर शासन किया तथा उन्हें अपना दास भी बना लिया । इतना कर लेने पर भी वह यह नहीं जान पाया कि सुख है क्या और कहाँ है ? उसकी सुख की प्यास नहीं बुझी वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है ।

इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य अज्ञानवश अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि रखता है, असत पदार्थो में सुखबुद्धि रखता है और उनकी प्राप्ति के लिये संघर्षरत रहता है । पहले तो साधनों का अभाव उसके दुःख का कारण था । उनके सुलभ हो जाने पर वे साधन ही दुःख के हेतु बन जाते हैं । जिसका अपना ही अस्तित्व नहीं है, जो नाशवान है, परिवर्तनशील है उससे स्थायी सुख मिल ही कैसे सकता है ? सांसारिक सुख चाहे किसी रूप में क्यों न हो, उनके अन्दर सूक्ष्म रूप से चार प्रकार के दुःख छिपे रहा करते हैं। अतः वे सुख ही कालान्तर में दुःखरूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं । वे दुःख हैं :–

परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख तथा गुणवृत्तियों का विरोध ।

इस प्रकार अविद्या (अज्ञान) ही मनुष्य के दुःख का एक मात्र कारण है । अविद्या को योगशास्त्र में क्लेश कहा है । अविद्या ही अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मरणभय) रूप चार अन्य क्लेशों को जन्म देती है । ये क्लेश मानव जीवन में दुःख के बीज बोते रहते हैं और मनुष्य को जन्म – मरण के चक्कर में डाले रहते हैं । अतः ये क्लेश ही जीव के बन्धन के मूल कारण भी हैं । श्री रामचरित

मानस में इन क्लेशों को प्रकारान्तर से मानस रोग के नाम से वर्णित किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि-इन रोगों से ग्रस्त मनुष्य कभी सुखी एवं स्वस्थ जीवन नहीं प्राप्त कर सकता । क्योंकि ये रोग उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं तथा एक रोग ही अन्य रोगों का जन्मदाता बन जाता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य नामक ये रोग लौकिक साधनों से किसी भी प्रकार दूर नहीं किए जा सकते । सद्गुरू रूपी वैद्य ही इन रोगों से मुक्ति दिलाने वाला एक मात्र चिकित्सक है और चिकित्सा है-योग साधना ।

योगदर्शन में क्रिया योग का फल बताते हुए यह बात स्पष्ट की गई है कि समाधि लाभ के लिये तथा अविद्यादि क्लेशों को दूर करने के लिये क्रियायोग की साध ना करनी चाहिए ।

**जैसे :- समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।**

(योग दर्शन-2/2)

योग साधना द्वारा हम अपने मन और इन्द्रियों को स्वस्थ एवं सशक्त बना कर सुखी जीवन प्राप्त कर सकते हैं । क्योंकि योग इन्द्रियों की चंचलता को शान्त करता है, मन को एकाग्रता प्रदान करता है और मनुष्य को उसके असीम शक्ति सम्पन्न होने का बोध कराता है ।

योग हमारे ऋषियों की अमर देन है । यह एक ऐसी सार्वभौम विद्या है, जिसका अधिकारी कोई भी व्यक्ति हो सकता है । वह चाहे किसी भी जाति अथवा धर्म से सम्बन्धित हो, पुरुष हो या स्त्री हो योग का आश्रय लेकर अपना जीवन सुखी एवं कल्याणमय बना सकता है और अन्त में मोक्ष का भागी बन सकता है। योग ही एक ऐसी विद्या है जो कि-मनुष्य को जीने की कला सिखाती है । असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर चलना योग विद्या ही सिखाती है । किस प्रकार हम अधिक से अधिक समय तक कार्य सम्पादन करने की सामर्थ्य रखते हुए जीवित रह सकते हैं, हमारा मन तथा इन्द्रियाँ किस प्रकार स्वस्थ रह सकती हैं ? इस बात की जानकारी योग सिद्धान्तों से ही प्राप्त की जा सकती है । यजुर्वेद का निम्नांकित मन्त्रांश योग सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है:-

**पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।**

**प्रब्रवाम शरदः शतम् । शृणुयाम शरदः शतम् ।**
**अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।**

हम सौ वर्ष तक ईश्वर का दर्शन करते रहें, हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, जन कल्याण तथा आत्म-साक्षात्कार के लिये सौ वर्ष तक शास्त्रों की चर्चा करते रहें और अदीन बनकर ही सौ वर्ष तक जीवित रहें ।

ईशावास्योपनिद के दूसरे मन्त्र में इसी बात को और भी स्पष्टरूप से कहा गया है :-

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिछीविशेच्छतं समाः ।**

अर्थात् हम पवित्र कर्म करते हुये ही सौ वर्ष तक जीवित रहें ।

योग शब्द संस्कृत की 'युजिर-योगे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-मिलना। अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करना ।

साधारणरूप से यम-नियमों का पालन करते हुए जीवन को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करना तथा लक्ष्य प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना योग-साधना कहलाती है ।

जीवन में योग का अत्यधिक महत्व है । योग मनुष्य को स्वस्थ, संयमित एवं सुखी जीवन प्रदान करता है । यम-नियमों के पालन से मनुष्य की बुद्धि सात्विक, पवित्र एवं स्फटिक मणि की भाँति उज्ज्वल हो जाती है । योगासन शरीर को स्वस्थ रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । सभी प्रकार के आसन शरीर-विज्ञान के नियमों पर आधारित हैं । अतः सब प्रकार के रोगों को निर्मूल करने में समर्थ होते हैं । नेति, धौति, वस्ति आदि क्रियायें आन्तरिक शुद्धि के लिये होती हैं । इनसे मनुष्य का शरीर तो स्वस्थ रहता ही है । अन्तःकरण भी शान्त, पवित्र एवं प्रफुल्लित हो जाता है । प्राणायाम से सब प्रकार के क्लेशों की निवृत्ति होती है तथा धारणा, ध्यान एवं समाधि के क्रमिक अभ्यास से समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी प्रकृति के सभी तत्वों पर पूर्णतया विजय प्राप्त करके सभी सिद्धियों का स्वामी, त्रिकालज्ञ तथा ''कर्त्तुमकनुमन्यथा कर्त्तुम्'' की सामर्थ्य वाला बन जाता है । आत्म स्वरूप को प्राप्त होकर वह सर्वथा शोक रहित हो जाता है । उसके लिए कुछ भी

प्राप्तव्य और कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता । ब्रह्मानन्द में निमग्न हुआ वह योगी संसार चक्र से छूट कर उस परमसत्ता में विलीन हो जाता है । यही मोक्ष कहलाता है ।

जो लोग शास्त्रों की अवहेलना करके दिन-रात भोग सामग्रियों के संग्रह में लगे रहते हैं और इसी को ही मानव जीवन का चरम पुरुषार्थ समझते हैं वे अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ में गंवा रहे हैं तथा स्वयं अपने हाथों अपने लिए दुःखों का जाल बुनते जा रहे हैं । भतृहरि जी के शब्दों में :-

**भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः,**
**तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।**
**कालो न यातो वयमेव यामाः,**
**तृष्णाः न जीर्णाः वयमेव जीर्णाः ।।**

अर्थात् भोग सामग्री का उपभोग हम नहीं कर रहे हैं बल्कि हम स्वयं ही उनके द्वारा भोगे जा रहे हैं। क्योंकि भोग अनन्त हैं । जबकि हमारे जीवन की एक सीमित अवधि है जिसे हम भोगों में आसक्त होकर बिता देते हैं । भोग फिर भी बने रहते हैं किन्तु हमारा जीवन नहीं रहता । इस प्रकार हम ही भोगों द्वारा भोगे जाते हैं । तप हम नहीं कर रहे हैं । बल्कि हम ही उनसे तपाये जा रहे हैं । समय नहीं बीत रहा बल्कि हम स्वयं ही बीते जा रहे हैं । हमारी वासनायें (इच्छायें) कभी समाप्त नहीं होती जबकि हम स्वयं ही वृद्ध हो जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं ।

मनुष्य अज्ञानवश भोग सामाग्रियों में सुख ढूँढ़ता है, सुख प्राप्ति के लिये तरह तरह की कामनायें करता है और उन्हें पूरा करने हेतु जीवन भर संघर्ष करता है किन्तु उसे सच्चा सुख नहीं मिलता और न मिल ही सकता है । क्योंकि इच्छायें तो असीम हैं वे तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती हैं । सच्चा सुख कामनाओं की पूर्ति में नहीं है बल्कि कामनाओं के अभाव में है । जैसे कहा भी गया है :-

**चाह गई चिन्ता मिटी मनुवां बेपरवाह ।**
**जाको कछु नहीं चाहिए, सोई शहन्शाह ।।**

इस स्थिति को प्राप्त करने का एक मात्र साधन योग ही है । योग साधना द्वारा मनुष्य उस उच्चतम स्थिति को पाने में समर्थ हो जाता है जहाँ दुःखों का सर्वथा

अभाव है एवं सतत सुख शान्ति का ही साम्राज्य रहता है । यथा: -

**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।**
**यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ।।**

(गीता - 6/22)

**तं विद्याद् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम् ।**
**स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ।।**

(गीता - 6/23)

परमात्मा की प्राप्तिरूप जिस परम् लाभ को प्राप्त करके और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, जिस सुख से बढ़कर और कोई सुख है ही नहीं तथा जिस अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य दुःख द्वन्दों से सर्वथा मुक्त हो जाता है और महान् दुःखों से भी विचलित नहीं होता । जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, सुखों के अक्षय भण्डार उस योग को प्राप्त करने के लिए धैर्य, उत्साह एवं विश्वास पूर्वक तत्परता से संलग्न हो जाना चाहिए ।

(अध्याय २)

# योग क्या ?

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू,**
**तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,**
**दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।**

(कठोपनिषद् 2/1/1)

परमेश्वर ने आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर देखने वाले बनाये हैं । इसलिए जीव बाहर की वस्तुओं को ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता । कोई विरला विद्वान पुरुष ही अमर पद पाने की इच्छा से चक्षु आदि इन्द्रियों को बाहरी विषयों से हटाकर अन्तरात्मा को देखता है ।

चूँकि यह जगत सत्व, रज् और तम इन तीन गुणों से उत्पन्न हुआ है अतः समस्त साँसारिक प्राणी इन गुणों से प्रभावित होकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों की पंचतन्मात्राओं- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करते रहते हैं । अर्थात् नाक से सूँघना, जिह्वा से रस का स्वाद लेना, आँख से रूप को देखना, त्वचा से स्पर्श करना और कान से शब्द सुनना आदि बाह्य विषयों को अनुभव करते हैं ।

इन्द्रियों का स्वामी मन है जो कि-उन्हें विषयों को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है । मन स्वयं ही सत्व, रज, तम इन गुणों से प्रभावित रहता है । गुणों की न्यूनाधिकता से मन की पाँच अवस्थायें होती हैं -

मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध ।

(1) **मूढ़**-मूढ़ावस्था में तमोगुण की प्रधानता रहती है । तमोगुण का धर्म अज्ञान और आलस्य है।

अतः इस अवस्था के प्राणी या तो कीट, पशु आदि योनियों में होते हैं अथवा मनुष्य योनि में रहते हुए भी प्रमाद, आलस्य, निद्रा-तन्द्रा आदि से अभिभूत होकर घोर अन्धकार पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं ।

**(2) क्षिप्त–** क्षिप्तावस्था में रजोगुण प्रधान रूप से रहता है और सतोगुण तथा तमोगुण गौण रूप से सहचारी भाव में रहते हैं । रजोगुण का धर्म प्रवृत्ति है । अतः वह मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करता है । इस श्रेणी में ''खाओ-पीओ-मौज करो'' का सिद्धान्त रखने वाले सामान्य सांसारिक व्यक्ति आ जाते हैं । रजोगुण के प्रभाव से उनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार की प्रबलता रहती है ।

**(3) विक्षिप्त–** मन की तीसरी अवस्था विक्षिप्तावस्था है । इस अवस्था में रजोगुण और तमोगुण गौणरूप से रहते हैं प्रधानता सतोगुण की हो जाती है । इस श्रेणी के व्यक्ति सरल तथा शान्त स्वभाव वाले होते हैं । धर्म में उनकी स्वाभाविक रूचि होती है । वे श्रद्धालु तथा परोपकारी होते हैं, किन्तु रजोगुण के प्रभाव से उनका मन अत्यन्त चंचल रहता है । जिस कारण वे किसी भी काम को टिककर नहीं कर पाते। उनमें धर्म-अधर्म, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य भोगासक्ति-वैराग्य दोनों प्रकार की वृत्तियाँ बनी रहती हैं । फिर भी उनकी रूचि धर्म के कार्यों में अधिक बनी रहती है।

ऐसे व्यक्ति अपने प्रधान गुण (सतोगुण) को विकसित करके तथा एकाग्रावस्था प्राप्त करके योग साधना द्वारा इसी जीवन में आत्मोद्धार कर सकते हैं।

**(4) एकाग्र–** चौथी अवस्था एकाग्रावस्था है । यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है । इसमें रजोगुण व तमोगुण का प्रभाव नहीं रहता । अतः सतोगुण के प्रकाश में चित्त अपना वास्तविक स्वरूप पहचानने लगता है । इसी स्थिति को सम्प्रज्ञात समाधि अथवा सम्प्रज्ञात योग कहा जाता है ।

**(5) निरूद्धावस्था–** चित्त की पांचवीं और अन्तिम अवस्था निरूद्धावस्था है । इस अवस्था में सभी वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है । सत्वादि तीनों गुण अपनी मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं और जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । इस अवस्था को ही असम्प्रज्ञात समाधि अथवा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं । यही योग की चरम साधना है ।

**उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि स्थूलता से सूक्ष्मता की**

ओर जाना, चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना अर्थात मन को बाहरी संसार से हटाकर अन्तर्जगत (रुहानी दुनिया) में ले जाना और प्रकृति के सभी तत्वों पर विजय प्राप्त करके उससे आगे के विषयों का साक्षात्कार करते हुए अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही योग है ।

योग शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की 'युजिर योगे' धातु से हुई है । जिसका अर्थ है मिलना । अर्थात जीवात्मा का परमात्मा में मिल जाना । समाधि की परिभाषा भी यही है :-

**समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनः ।**

जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है ।

योग को तीन भागों में बाँटा गया है:-

(1) ज्ञान योग (2) कर्मयोग (3) उपासना योग

**(1) ज्ञान योग-** प्रकृति के तीनों गुणों से परे विशुद्ध ईश्वर तत्व को ठीक प्रकार से जान लेना ही ज्ञानयोग है । योग के आदि-प्रवर्तक अखिल लोक नायक जगदात्मा श्री कृष्ण ने ज्ञान योग को पवित्रतम एवं मोक्षदायी बताते हुए उसकी प्राप्ति के दो प्रमुख उपाय बताये हैं :- (1) साधना (2) सिद्धकृपा।

**यम नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए श्रद्धा एवं उत्साह पूर्वक दीर्घ काल तक किया जाने वाला अभ्यास ही साधना अथवा साधन योग कहलाता है ।**

**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।**

(गीता-4/39)

जितेन्द्रिय, साधनपरायण एवं श्रद्धालु व्यक्ति को ही ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह भगवद् प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

**दूसरा उपाय है-सन्तों की कृपा ।** इस सम्बन्ध में अखिल लोक पावन

श्री कृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के माध्यम से योग के जिज्ञासु साधकों के लिए एक सरल तथा श्रेष्ठ मार्ग प्रशस्त किया है :-

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ।।**

हे अर्जुन। उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जाकर सीख । उनको भली भाँति दण्डवत प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से एवं निष्कपट भाव से जिज्ञासा प्रकट करने पर परमात्मतत्व को यथार्थ रूप में जानने वाले वे ज्ञानी महात्मा तुम्हें तत्वज्ञान का उपदेश अवश्य देंगे ।

(2) **कर्मयोगः–** अपना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, धन सम्पत्ति आदि सारे साधनों तथा उनसे होने वाले समस्त कर्मों और कर्मफल को ईश्वर के समर्पण करते हुए निष्कामभाव से व्यवहार करते रहना 'कर्मयोग' कहलाता है । कर्मयोग का स्वरूप श्रीमद्भगवत्गीता के निम्नांकित श्लोकों में स्पष्ट किया गया है :-

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरूष्व मदर्पणम ।।**
**योगस्थः कुरु कर्माणि,**
**संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।**
**सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा,**
**समत्वं योग उच्यते ।।**

हे अर्जुन ! तू जो कुछ काम करता है, जो कुछ खाता है, जो यज्ञ करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे । अर्थात् उन कर्मों का कर्ता स्वयं को मत मान और न कर्मफल में आसक्ति रख ।

हे अर्जुन ! तू आसक्ति को त्याग कर तथा सफलता और असफलता में समान बुद्धि रखते हुए योग में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्मों को कर । क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है ।

(3) **उपासनायोग–** मन को सब ओर से हटाकर उसे किसी लक्ष्य विशेष पर ठहराते हुए विशुद्ध परमात्म-तत्व को प्राप्त करने की साधना उपासना योग कहलाता है । उपासना शब्द का अर्थ भी यही है:-

## "उप आस्यते अनेनेति उपासना" ।

जिस साधना के द्वारा परमात्मा की समीपता का बोध हो - वह उपासना योग है ।

उपासना योग के दो अन्तर्विभाग हैं :-

सहजयोग (राजयोग) एवम् हठयोग ।

**सहजयोग–** किसी एकान्त और पवित्र स्थान पर सुखासन में बैठकर कमर, छाती एवं गर्दन को एक सीध से रखते हुए अपने शरीर के ही किसी एक भाग में परमात्मा का ध्यान करना सहजयोग कहलाता है । इसमें मन पर संयम किया जाता है । अत: इसे राज-योग भी कहा जाता है । मन्त्रजप की सहायता से मन को एकाग्र करने की विधि के कारण इसे ही मन्त्रयोग तथा ध्यान की प्रमुखता के कारण इसे ही ध्यानयोग कहा जाता है ।

**हठयोग–** इसमें सबसे पहले तो नेति, धौति, वस्ति आदिषट्कर्मों द्वारा शरीर की आन्तरिक शुद्धि की जाती है । फिर तपाचरण द्वारा अन्त:करण की शुद्धि की जाती है और फिर प्राणायाम द्वारा प्राणों पर संयम करने का अभ्यास किया जाता है ।

**यत्र प्राणो लीयते तत्र मनः लीयते ।**

इस सिद्धान्त के अनुसार हठयोगी प्राणों पर संयम करके मन एकाग्र करता है । उद्देश्य उसका भी राजयोग को सिद्ध करना ही है । हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है :-

**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।**

अर्थात्-राजयोग की सिद्धि के लिए ही हठयोग की शिक्षा दी जाती है ।

योग के आठ अंग हैं - यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इनमें आरम्भ के पांच बहिरंग साधन हैं और अन्तिम तीन अन्तरंग ।

इस प्रकार संक्षेप से योग का स्वरूप बताकर उसकी आवश्यकता को समझाने के उद्देश्य से आत्मा और परमात्मा का स्वरूप भी शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार बताने का प्रयास किया जा रहा है ।

(अध्याय ३)

# जीवात्मा और परमात्मा

जीवात्मा परमेश्वर का ही सनातन अंश है । उसका वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दमय है, किन्तु माया के वश में रहने के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता । वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को प्रेरित करने वाला और उन्हें चेतनता प्रदान करने वाला चेतनतत्त्व आत्मा ही है । गीता में अखिल लोकनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है :-

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**
**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।**

(गीता १५।७)

अर्थात् देह में स्थित यह जीवात्मा मुझ परमेश्वर का ही सनातन अंश है । यही जीवात्मा त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई इन्द्रियों तथा मन को प्रेरित करता है ।

उपनिषदों का भी यही निर्णय है कि यह आत्मा अजर, अमर एवं नित्य ज्ञानस्वरूप है । जैसे :-

**न जायते म्रियते या विपश्चिन्नायं,**
**कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,**
**न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।**

(कठोपनिषद् २।२।१८)

यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है । यह न स्वयं कभी किसी से हुआ है ओर न इससे कोई भी हुआ है । यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, सदा एक समान रहने वाला है । शरीर के नाश किये जाने पर भी इसे मारा नहीं जा सकता।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीवात्मा का स्वरूप बड़े स्पष्टीकरण के साथ समझाया

गया है । जैसे :

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः,
संकल्पाहंकारसमविन्वतो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव,
आराग्रमध्यो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।८)

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स च अनन्ताय कल्पते ।।

(श्वे. ५।९)

नैव स्त्री न पुमान् चैव न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।

(श्वे. ५।१०)

यह जीवात्मा अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला और सूर्य के समान प्रकाशमय है । वह संकल्प और अहंकार से युक्त हो रहा है । अतः संकल्परूप बुद्धि के गुण से तथा अहंता-ममता रूप अपने गुणों से बंधा होने के कारण यह सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है । परमात्मा से भिन्न इस प्रकार का भी जीवात्मा का स्वरूप ज्ञानीजनों द्वारा देखा गया है ।

जीवात्मा का आकार इतना सूक्ष्म है कि बाल की नोंक के सौवें भाग के फिर सौ भाग कर दिये जाने पर जो एक भाग होता है, उसी के बराबर जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिये ।

यह जीवत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है । यह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस उससे सम्बद्ध हो जाता है ।

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय, तृतीय बल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा गया है-

जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही मानव शरीर में बुद्धिरूपी गुफा में छिपे हुए हैं और वे धूप और छाया की भांति सदा साथ-साथ रहते हुए भी एक दूसरे से भिन्न

हैं । जीवात्मा छाया की भांति अल्पप्रकाश और अल्पज्ञ है, किन्तु परमात्मा धूप की भांति पूर्ण प्रकाश और सर्वज्ञ हैं ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में दो पक्षियों के दृष्टान्त से इस विषय को समझाया गया है :-

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,**
**समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-**
**नश्न्नन्यो अभिचाकशीति ।।**

(श्वे. उ. ४।६)

सदा साथ रहने वाले तथा परस्पर मित्रता रखने वाले जीवात्मा और परमात्मा रूप दो पक्षी एक ही शरीररूपी वृक्ष पर हृदयरूपी घोंसले में एक साथ निवास करते हैं । उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों का स्वाद ले-लेकर खाता रहता है और दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है । अर्थात् जीवात्मा तो हर्ष, शोक का अनुभव करता हुआ कर्मफलों को भोगता है और दूसरा पक्षीरूप परमात्मा इस शरीर में प्राप्त हुए सुख-दुःखों को भोगता नहीं, केवल द्रष्टा बना रहता है ।

## प्रकृति अथवा माया

जीवात्मा को परमेश्वर से दूर रखने वाली और जीव को बन्धन में डालने वाली इन दौनों के बीच एक तीसरी शक्ति काम करती है । जिसे शास्त्रों में कहीं तो प्रकृति कहा गया है और कहीं ईश्वर की अव्यक्त माया कहकर वर्णित किया गया है । गोसांई तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में बड़े ही सरल शब्दों में माया का स्वरूप इस चौपाई में दर्शाया है :-

**मैं अरु, तोर तें माया । जा वश कीन्हे जीव निकाया ।।**

वस्तुतः अहंता, ममता, राग-द्वेष आदि ही माया के धर्म हैं । इनसे जकड़ा होने के कारण ही जीव परमार्थ से भटका रहता है । जीव इस माया से किस प्रकार प्रभावित रहता है ? इस विषय को गीता के ७वें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में समझाया गया है :-

**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।**
**मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।**
**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।**
**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।**
**माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।**

गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस, तामस इन तीनों प्रकार के भावों से अर्थात् राग-द्वेष आदि विकारों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है । इसलिये मनुष्य इन तीनों गुणों से अतीत मुझ अविनाशी परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानता । क्योंकि मेरी यह त्रिगुणमयी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो व्यक्ति मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं । माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए दुराचारी नीच मनुष्य मुझ परमेश्वर को नहीं भजते ।

योगदर्शन में इसी माया के लिये 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है और दृश्य की परिभाषा बताते हुए लिखा है :-

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।**
(यो. द. २।१८)

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अंहकार जिसका स्वरूप है, जीवात्मा के लिये भोग और मुक्ति का सम्पादन करना जिसका प्रयोजन है, वही दृश्य है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी माया को प्रकृति के नाम से वर्णित किया गया है । जैसे :-

**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।**
**तस्याः अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।**
(श्वे० ४।१०)

माया तो प्रकृति को समझना चाहिये और परमेश्वर को मायापति समझना चाहिये । उस परब्रह्म की शक्तिरूपा प्रकृति के ही अंगभूत कार्य-कारण समुदाय से

यह सारा जगत व्याप्त हो रहा है ।

## जीवात्मा की बद्धावस्था और मुक्तावस्था

जैसा पहले बताया जा चुका है कि जीवात्मा का पथार्थ स्वरूप विज्ञानमय है किन्तु उस परमेश्वर की त्रिगुणमयी मायाशक्ति से मोहित होकर वह नाशवान् शरीर एवं इन्द्रिय समुदाय के धर्मों को अपने में आरोपित करके स्वयं को सुखी या दुःखी अनुभव करता है । जीव की यह विवशता ही उसकी बद्धावस्था है । जब वही जीव उन करुणानिधान परमेश्वर की अहैतुकी कृपा से अपनी इन्द्रियां, मन और बुद्धि को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है तो अपने उस शाश्वत मित्र आनन्द के सागर परमेश्वर को पाकर आनन्द में निमग्न हो जाता है । यही जीव की मुक्तावस्था है ।

**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो,**
**अनीशया शोचति मुह्यमानः ।**
**जुष्टं यदा यश्यत्यन्यमीश –**
**मस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।**

(श्वे० ४।७)

शरीररूपी एक ही वृक्ष पर हृदयरूपी घोंसले में सदा साथ रहने वाला जीवात्मा गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है । अतः वह दीनतापूर्वक (मोहित हुआ) शोक करता रहता है । जब भगवान् की दया से योगियों द्वारा सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देख लेता है, तव वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है ।

**संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च,**
**व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।**
**अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्,**
**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।**

(श्वे. १।८)

विनाशशील प्रकृति और अविनाशी जीवात्मा इन दोनों के संयोग से बने हुए व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप इस विश्व को परमेश्वर ही भरण और पोषण करते हैं तथा

जीवात्मा सांसारिक विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण उसमें बंध जाता है और वही जीवात्मा परमेश्वर को जान लेने के बाद सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

## परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा कैसे हैं, उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उन्हें जान लेने का क्या फल है ? इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् निर्णयात्मक उत्तर देता है :-

**अङ्गुष्ठमात्रपुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।**
**ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।।**
**एतद्वै तद् ।।**

(कठ. २।१।१२)

यमराज नचिकेता को उसके परमात्मतत्त्व सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं :-

अंगुष्ठमात्र परिमाण वाले परम पुरुष परमात्मा धूम रहित निर्मल ज्योति के समान हैं । वे भूत, वर्तमान और भविष्य पर शासन करने वाले हैं । वे धूमरहित, उष्णतारहित एवं सर्वथा विशुद्ध हैं । अन्य ज्योतियाँ घटती बढ़ती रहती हैं और समय आने पर बुझ जाती हैं किन्तु वे परमात्मा जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी रहेंगे ।

वे परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म हैं और महान् से महान् हैं । अर्थात् संसार का सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ भी उनकी तुलना में स्थूल ही बना रहता है और महानता में वे इतने महान् हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड में छाये हुए हैं । वे जीवात्मा के अत्यन्त निकट होने पर भी बहुत दूर हैं, अर्थात् उसे दृष्टिगोचर नहीं होते । इस प्रकार वे परमात्मा आश्चर्यमय हैं । बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह पहले तो अनुभवी महापुरुषों से इस विषय को श्रद्धापूर्वक सुने, फिर उस पर मनन करे और फिर योगपरायण होकर आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करे । क्योंकि योगपरायण व्यक्ति ही उस तत्त्व को पाने का अधिकारी है । यथा :-

**तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं,**
**गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।**

**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं,**
**मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।**

(कठ. १।२।१२)

जो सर्वव्यापी परमात्मा योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सबके हृदयरूपी गुफा में स्थित होने के कारण संसाररूप गहन वन में रहने वाला है तथा पुराण पुरुष है, ऐसे उस कठिनता से देखे जाने योग्य परमात्मदेव को निरन्तर ध्यानाभ्यास में लगा रहने वाला साधक ही प्राप्त कर सकता है तथा उसे पाकर वह सदा के लिये हर्षशोक से मुक्त हो जाता है ।

**नं संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,**
**न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।**
**हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो,**
**य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।**

(कठ. २।३।९ श्वे. ४।२०)

उन परमेश्वर का दिव्यस्वरूप प्रत्यक्ष विषय के रूप में सामने नहीं ठहरता और उस दिव्यरूप को कोई भी मनुष्य अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा नहीं देख पाता । मन में बार-बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ वह परमात्मा निर्मल तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही दृष्टिगोचर होता है । जो साधक इन परमेश्वर को जान लेते हैं, वे परमानन्द स्वरूप बन जाते हैं ।

साधनपरायण संयमी व्यक्ति ही उन परमात्मदेव को जान सकता है, किन्तु जो व्यक्ति विषयलोलुप होकर इन्द्रियों का दास बना रहता है और मनमाना आचरण करता है तथा जिसका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, वह परमेश्वर को न पाकर जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है । जैसे :-

**यस्त्वविज्ञानवानभवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।**
**न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।**

(कठ. १।३।७)

**यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।**
**स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।**

(कठ. १।३।८)

**विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः ।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।**

(कठ. १।३।९)

जो मनुष्य सदा विवेकहीन बुद्धि वाला, असंयतचित्त और अपवित्र बना रहता है, वह उस परमपद को नहीं पा सकता । प्रत्युत बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारचक्र में ही भटकता रहता है । इसके विपरीत जो साधक विवेकशील बुद्धि से युक्त, संयमी और पवित्र रहता है, वह परमेश्वर के उस परमधाम को प्राप्त कर लेता है जहां से फिर लौटना नहीं पड़ता । जो साधक विवेकशील बुद्धि को अपना सारथी बनाये रखता है और मनरूपी लगाम को सावधानी से संभाले रहता है, वह संसार के बीहड़ मार्ग को पार करता हुआ परमेश्वर के उस पद को पा जाता है ।

(अध्याय ४)

# योग एवं आरोग्य

योग केवल आत्म-साक्षत्कार ही नहीं कराता बल्कि यह मनुष्य को आरोग्य लाभ भी प्रदान करता है । अधिकांश रोग मानसिक तनाव के कारण होते हैं । ध्यानयोग के नियमित अभ्यास से मस्तिष्क तनाव-मुक्त हो जाता है, मन प्रफुल्लित रहता है और शरीर हल्का, फुर्तीला एवं तेजस्वी बन जाता है तथा बुद्धि प्रखर हो जाती है । ध्यानाभ्यास के फल स्वरूप पापों के भस्म हो जाने से शारीरिक एवं मानसिक रोग स्वत: ही दूर हो जाते हैं और मनुष्य दीर्घायु बन जाता है ।

## (क) यौगिकषट्कर्म

शरीर के भीतरी अंगों की शुद्धि के लिये तथा शारीरिक और मानसिक आरोग्य के लिये योगशास्त्र में षट्कर्मों का विधान किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

### (1) नेतीक्रिया

सूत्रनेती, जलनेती तथा दुग्धनेती के नियमित अभ्यास से गले के ऊपर के अंगों के सभी रोग समूल नष्ट हो जाते हैं । नजला-जुकाम नजदीक नहीं आता, आँख और नाक में मल जमा नहीं होता, आँखें निर्मल हो जाती हैं, आँखों की ज्योति बढ़ती है, बाल सफेद नहीं होते, मस्तिष्क की गर्मी शान्त होती है और मन बड़ा शान्त एवं प्रफुल्लित बना रहता है ।

### (क) सूत्रनेती

बटे हुए सूत की लगभग एक फुट लम्बी डोरी (जिसे विशेष विधि से तैयार किया जाता है) को पानी में भिगोकर नरम करके नाक के छिद्र में डालकर मुंह से बाहर निकालना तथा फिर दूसरे नासाछिद्र में डालकर मुंह से बाहर निकालने की क्रिया को सूत्रनेती कहा जाता है । इस क्रिया को करने से नाक की नली तथा मस्तिष्क में जमा मल बाहर निकल जाता है ।

## (ख) जलनेती

सूत्र नेती से बाद उबला हुआ तथा नमक मिला गुनगुना जल टूटीदार लोटे से नाक के एक छिद्र में डालकर दूसरे छिद्र से बाहर निकाल देना चाहिये । इसके बाद नासिका के छिद्र से जल पीकर उसे मुंह से बाहर निकाल देना चाहिये । फिर दूसरे नासाछिद्र से जल पीकर मुंह से बाहर निकालना चाहिये । दो चार दिन इस प्रकार करने से नाक की नली एवं गले की पूरी तरह सफाई हो जाती है ।

इसके बाद जल में बड़ी इलायची उबाल कर उस जल को छानकर और नमक मिलाकर गुनगुना जल नाक से पीना चाहिये । इस क्रिया को करने से नजला-जुकाम, खांसी एवं दमा आदि रोग दूर होते हैं ।

## (ग) दुग्धनेती

सूत्रनेती एवं जलनेती के बाद उबला हुआ सोंठ मिला गुनगुना दूध छानकर टूटीदार लोटे से नाक से पीना चाहिये । गर्मी के मौसम में सोंठ के स्थान पर दूध में सौंफ उबालकर दुग्धनेती करनी चाहिये ।

नाक से पिया गया दूध सामान्य दुग्धपान की अपेक्षा कई गुणा अधिक पौष्टिक बन जाता है । इससे मस्तिष्क की सभी नस-नाड़ियों को तत्काल ही ऊर्जा एवं चिकनाहट प्राप्त हो जाती है और फेफड़े तथा हृदय सशक्त बन जाते हैं । नाक से पिया गया दूध साथ के साथ पच जाता है, जिससे शारिरिक बल में भी वृद्धि हो जाती है ।

दुग्धनेती से स्मरणशक्ति बढ़ती है, आँखों की ज्योति बढ़ती है, अनिन्द्रा, पागलपन आदि मानसिक रोग तथा मन्द रक्तचाप (Low Blood Pressure) घबराहट आदि हृदय सम्बन्धी रोग भी बहुत शीघ्र दूर होते हैं।

## (2) धौतीक्रिया

इस क्रिया को करने के लिए 10 मीटर लम्बा और 10 सैं०मी० चौड़ा मलमल का कपड़ा चाहिये । बाल्टी में स्वच्छ गुनगुना जल भरकर उस जल से कपड़े को अच्छी तरह धो लेना चाहिये । फिर कपड़े को बाल्टी में डालकर जल में नरम करके

उसका एक किनारा मुंह में डालकर पानी के घूंट के सहारे उसे धीरे-धीरे निगलना चाहिये । जब केवल 1 फुट कपड़ा शेष रह जाये तब उसे पकड़कर धीरे-2 मुंह से बाहर निकाल लेना चाहिये । इस क्रिया को करने के बाद रोगी को मूंग की पतली खिचड़ी खानी चाहिये, खिचड़ी में पर्याप्त मात्रा में शुद्ध घी डाला होना चाहिये । रोगी को उस दिन खिचड़ी के अतिरिक्त कुछ भी सेवन नहीं करना चाहिये। धौतीक्रिया से आहार नलिका की गले से लेकर आमाशय तक पूरी तरह सफाई हो जाती है । जिससे दमा, तपेदिक तथा पेट सम्बन्धी सब प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं ।

## (3) न्यौली

इस क्रिया को करने के लिये सर्वप्रथम पैरों के बल सीधे खड़े हो जाइये । दोनों हथेलियों को मजबूती से घुटनों पर रखिये । फिर कमर झुकाकर एवं पेट को अन्दर की ओर सिकोड़कर दोनों नलों को चक्राकार रूप में (पहिये की तरह) घुमाइये।

इस क्रिया को करने से पाचन शक्ति तीव्र हो जाती है और अजीर्ण से होने वाले सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं ।

## (4) वस्ती

इस क्रिया में किसी नदी या तालाब में कमर तक जल में खड़े होकर गुदामार्ग से पेट में जल भरकर पेट की सफाई की जाती है । न्यौली क्रिया की सहायता से पेट में जल भरा जाता है । जल भर जाने के उपरान्त दुबारा न्यौली करके जल को पेट में घुमाया जाता है और फिर गुदामार्ग से उसे बाहर निकाल दिया जाता है।

इस क्रिया से पेट की पूरी सफाई हो जाने से पाचनशक्ति बढ़ जाती है और बवासीर, भगन्दर, संग्रहिणी आदि असाध्य रोग तथा वीर्यसम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं।

## (5) गजकरणी (वमननेती)

उबला हुआ तथा नमक मिला गुनगुना जल पैरों के बल बैठकर कम से कम दो लीटर पी जाइये और फिर तत्काल वमन द्वारा बाहर निकाल दीजिये । इस क्रिया से मस्तिष्क की गर्मी शान्त होती है, अम्लपित्त (Acidity) एवं कफजनित कई प्रकार के रोग शान्त होते हैं । मस्तिष्क हल्का एवं मन प्रसन्न रहता है। इस क्रिया को करने के बाद गर्म दूध पी लेना चाहिये ।

## (6) शंखप्रक्षालन

गजकरणी की भाँति इस क्रिया में भी पैरों के बल बैठकर कम से कम दो लीटर उबला, नमक मिला गुनगुना जल पीना चाहिये । उसके बाद आंतों पर दबाव डालने वाला कोई आसन करना चाहिये । फिर गुदामार्ग से वह जल बाहर निकाल देना चाहिये । जल के साथ आंतों में चिपका मल भी बाहर निकलना आरम्भ हो जायेगा । दुबारा जल पीजिये और उसे फिर उसी प्रकार बाहर निकाल दीजिये । इस क्रिया को तब तक करते रहना चाहिये जब तक गुदा द्वार से साफ जल निकलना आरम्भ न हो जाये ।

शंख प्रक्षालन से आँतों की पूरी तरह सफाई हो जाती है । इस क्रिया को करने के बाद रोगी को मूंग की पतली खिचड़ी का सेवन करना चाहिये । खिचड़ी में पर्याप्त मात्रा में शुद्ध घी डाला होना चाहिये । इस क्रिया को करने के बाद शरीर का तापमान गिर जाता है । अत: रोगी को ठंड से बचना चाहिये और दिन भर पूरा विश्राम करना चाहिये । यह क्रिया वर्ष में एक बार मार्च – अप्रेल के महीने में कर लेनी चाहिये।

## विविध प्राणायाम

प्राणायाम से प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाने से प्राणों (श्वासों) का अपव्यय नहीं होता । जिससे कई प्रकार के रोग शान्त होते हैं और मनुष्य की आयु बढ़ती है । यहां कुछ आरोग्यप्रद प्राणायामों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

सूर्यभेदी प्राणायाम से सभी प्रकार के वातदोष एवं कृमिदोष दूर हो जाते हैं तथा मन की एकाग्रता बढ़ती है ।

उज्जायी प्राणायाम से मस्तक की उष्णता, गले का कफ तथा अन्यान्य कई प्रकार के रोग नष्ट होते हैं और शरीर में अग्नि की वृद्धि होती है । इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर रोग तथा धातु सम्बन्धी सभी रोग दूर हो जाते हैं ।

शीतली प्राणायाम से रक्तचाप की विषमता (Low/High Blood Pressure) हृदयरोग, प्लीहा, क्षयरोग, दमा, जीर्णज्वर, पित्तज्वर, अम्लपित्त, अधिक प्यास लगना आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं । शीतली प्राणायाम शरीर स्थित कई प्रकार के विषों को नष्ट कर देता है और आयु को बढ़ाता है ।

भस्त्रिका नामक प्राणायाम से कंठ की जलन मिटती है, शरीर में अग्नि बढ़ती है, मस्तिष्क में हल्कापन आता है, मन की एकाग्रता बढ़ती है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है । यह प्राणायाम सब प्रकार के पापों को भस्म कर देने वाला, पुण्य को बढ़ाने वाला तथा सब प्रकार से कल्याणकारी है ।

इसी प्रकार यौगिक बन्ध और मुद्रायें भी साधक को अधिक से अधिक लाभ प्रदान करंती हैं ।

खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने से योगी को भूख प्यास नहीं सताती । भोजन और निद्रा का सेवन न करने पर भी उसका शरीर सुदृढ़ बना रहता है और वह दीर्घायु बन जाता है ।

महामुद्रा के अभ्यास से सब प्रकार के नीरस भोजन भी सरस बन जाते हैं पथ्य-अपथ्य ही नहीं तीव्र विष भी अमृत के समान पच जाता है । क्षयरोग, कुष्ठरोग, भगन्दर, गुल्म और अजीर्ण से उत्पन्न होने वाले सभी रोग महामुद्रा के प्रभाव से दूर हो जाते हैं ।

मूलबन्ध लगाकर ध्यानाभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है । उसे वृद्धावस्था का भय नहीं रहता ।

## (ख) योगासन

योगासन शरीर को सुन्दर, सुदृढ़ और नीरोग बनाते हैं । धनुरासन, उत्तानपादासन, चक्रासन, हलासन, सर्वाङ्ग.आसन एवं मयूरासन को नियमपूर्वक करने से सब प्रकार के रोग दूर हो जाते है ।

पश्चिमोत्तान आसन, पद्मासन एवं योगमुद्रा का नियमित अभ्यास करने से पेट सम्बन्धी सब प्रकार के रोग बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । पश्चिमोत्तान आसन को प्रतिदिन पाँच मिनट तक नियमपूर्वक करते रहने से सायटिका रोग भी दूर हो जाता है। सर्वाङ्ग.आसन और धनुरासन को नियमित रूप से तथा अधिक समय तक करने से गुर्दे की पथरी आपरेशन के बिना ही बाहर निकल आती है। यम-नियमों के पालन के साथ इन आसनों को विधिपूर्वक करते रहने से मन की एकाग्रता बढ़ती है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है । शीर्षासन तो सभी आसनों का राजा है

किन्तु यह हर व्यक्ति को अनुकूल नहीं बैठता तथा विधिपूर्वक न करने से इससे कई प्रकार की हानियाँ भी हो सकती हैं । अत: अनुभवी गुरु से भली-भाँति सीखकर ही इस आसन का विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त योगेश्वर प्रभु राम लाल जी महाराज द्वारा प्रचारित ''जीवनतत्व साधन'' नौ आसनों का समुच्चय है, जो कि सभी 84 आसनों का सार है । ये आसन बड़े सरल हैं । अत: बालक से लेकर वृद्ध तक सभी लोग इन आसनों को कर सकते हैं । इन 9 आसनों को नियमपूर्वक तथा विधिपूर्वक करने से सब प्रकार के रोग हट जाते हैं । इन आसनों को करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है । जिससे ध्यानाभ्यास में सहायता मिलती है ।

## योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज की अमर देन

## (जीवन तत्व साधन)

### (1) सर्वोत्तान
### (केवल तीन बार समय एक मिनट)

इसमें मनुष्य को लेट कर अपने हाथों की अंगुलियां अपने हाथों में डाल कर तथा उल्टा करके सिर के पिछली तरफ ले जाकर एवं पैरों को लम्बे पसार कर जितना भी अधिक से अधिक हम तनाव दे सकते हैं, वह देना चाहिए। एक बार ऐसा करके शरीर को ढीला छोड़ देना चाहिए । फिर दूसरी बार करना चाहिये और फिर शरीर को कुछ क्षण ढ़ीला छोड़कर तीसरी बार करना चाहिये । जिससे शरीर का हर एक स्नायु इस तनाव को पाकर यथार्थ गति को प्राप्त हो जाये।

सर्वोत्तान

इस क्रिया से फेफड़े और हृदय सुचारू रूप से काम करने लगते हैं तथा शरीर स्थित सभी नस-नाड़ियों को बल मिलता है।

## (2) स्कन्ध चालन
(समय-पन्द्रह मिनट)

स्कन्ध चालन आगे की ओर

इस क्रिया को करने के लिये मनुष्य को सावधान हो कर बैठ जाना चाहिये अपने दाहिने कन्ध को धीरे से नीचे की ओर झुका दीजिए फिर धीरे-2 दाहिने कन्धे को आगे की ओर झुकाओ और झुके हुए कन्धे को ऊपर धीरे-धीरे ले जाओ । ऊपर की ओर ले जा करके उसको पीछे की ओर ले जाओ । ज्यों-2 दाहिने कन्धे को नीचे की ओर ले जाओगे ठीक त्यों-2 बायां कन्धा ऊपर की ओर हो जायेगा और ज्यों-2 दायां कन्धा आगे को झुकाओगे तो बायां कन्ध । स्वाभाविक पीछे की ओर हो जायेगा और ज्यों ही दायां कन्धा ऊपर की ओर हो जायेगा त्यों ही बायां कन्धा नीचे की ओर हो जायेगा और दायां कन्धा ऊपर की ओर होकर पीछे की ओर हो जायेगा। इसके करने से दोनों फेफड़े ठीक काम करने लगते हैं । कन्धे, गर्दन और हंसली के सभी विकार दूर हो जाते हैं। इसके नियमित अभ्यास से थाराइड नामक रोग तथा यकृत और तिल्ली के रोग बिना औषधि से ठीक हो जाते हैं। यदि किसी का यकृत बढ़ गया है तो वह स्कन्ध चालन से अवश्य ही यथार्थ स्थिति में आ जायेगा।

स्कन्ध चालन पीछे की ओर

## (3) पग चालन
(समय-पांच मिनट)

पगचालन दांये पैर से

यह क्रिया करते हुए सीधे लेट जाना चाहिए और लेट कर अपने पैर के ऊपर पैर रख कर साधारण गति से हिलाना चाहिए । हिलाने का क्रम यह होगा कि यदि हमने अपना दायां पैर बायें पैर

के टखने पर रखा है तो दांये पैर की एडी को बराबर जमीन में लगाते रहें और बायें पैर के अंगूठे को बराबर जमीन में

पगचालन बांये पैर से

लगाने का प्रयत्न करते रहें । इसी प्रकार यदि बायां पैर दाहिने पैर के टखने पर रखा हो तो इस विधि से हिलाओ कि बायें पैर की एडी जमीन पर लगती रहे और दायें पैर का अंगूठा जमीन पर लगता रहे । यह क्रिया साधारण है किन्तु छोटी और बड़ी आंतों के लिए परम लाभदायक है । इसके करने से छोटी और बड़ी आंतें यथार्थ गति से अपना काम करने लगती हैं ।

## (4) नाभि चालन

(समय - पन्द्रह मिनट)

इस क्रिया का यथार्थ रूप यह है कि जिस प्रकार से एक मगरमच्छ किसी जीव का भक्षण करके बाहर बालुका में आकर अपने पेट को इधर-उधर हिलाया करता है । इस क्रिया को करते हुये मनुष्य को चाहिए कि दाहिने से बायें ओर बायें से दाहिनी ओर करवट बदलने की तरह से शरीर को पलटता रहे किन्तु सिर बाकायदा एक ही जगह पर कायम रहना चाहिए । इस क्रिया का नाम नाभि

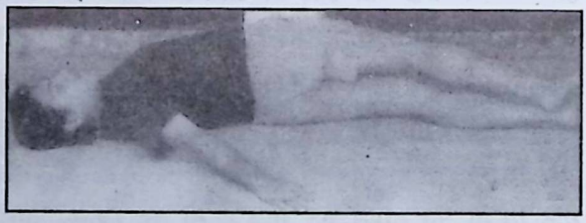

चालन है । इस क्रिया को करने से बहुत भूख लगती है मन्दाग्नि की निवृत्ति हो जाती है । जिनको पेट में हवा बनती है वह बननी बन्द हो जाती है । यह क्रिया पेट के प्राय: सभी रोगों के लिए लाभदायक है। शुगर रोग से छुटकारा पाने के लिए और मोटापा दूर करने के लिए यह आसन बहुत लाभदायक है।

## (5) जानु प्रसार

(दोनों ओर से तीन बार समय दो मिनट)

इस क्रिया को नाभि चालन करने के बाद अवश्य करना चाहिए । नाभि चालन करने के बाद साधारण भाव से लेटे रहना चाहिए और अपने दाहिने पैर को मोड़कर जानु के पास दाहिने पैर के पंजे को सटा देना चाहिए और धीरे-2 अपने दाहिने पैर के जानु को जमीन पर लगा देना चाहिए और धीरे-2 उसको उठा लेना चाहिए । इस प्रकार यह क्रिया तीन बार दाहिने पैर से और तीन बार बायें पैर से करनी चाहिए अर्थात् दायें पैर से करने के बाद बायें पैर के पंजे को दाहिने पैर की ही तरह दायें पैर के जानु के पास सटाकर बायें पैर के घुटने को तनाव के साथ शनैः शनैः जमीन पर लगाना चाहिए और धीरे-2 छोड़ देना चाहिए । इस क्रिया के करने से जंघाओं और पेट का पूरा स्नायु मण्डल सही स्थिति में आ जाता है ।

जानु प्रसार दाये पैर से

जानु प्रसार बाये पैर से

## (6) बाल मचलन

(समय-एक मिनट)

इस क्रिया को करते हुए सीधे लेट कर अपने दाहिने-बायें पैर को तथा अपने दायें-बायें हाथ को इस ढंग से जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए जिस प्रकार बच्चे अपनी माता से रूठ कर हाथ पैर चलाया करते हैं । अर्थात् लेट कर दायें पैर को ऊपर की ओर चला जायेगा । इस प्रकार से दोनों हाथों और पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिये किन्तु सिर यथार्थ रूप में जमा रहना चाहिए । इस क्रिया का नाम बाल मचलन है । यह केवल मात्र बच्चों के मचलने की नकल है। इसके

करने से शरीर में एक स्वाभाविक आह्लाद पैदा होता है और उस आल्हाद में सब प्रकार के रोग स्वत: ही दूर हो जाते हैं।

## (7) बालक का ध्यान
(समय-पन्द्रह मिनट)

इस क्रिया में अपने शरीर को बिल्कुल स्थिर भाव से ढीला छोड़ दीजिए और शान्त भाव से लेटे रह कर एक सुन्दर चंचल बच्चे का ध्यान कीजिये जिसकी आयु कल्पना से 2 या 3 साल की हो । यह बच्चा किसी अच्छे रमणीक उद्यान में खेल रहा हो । ध्यान करने वाला साधक कल्पना से स्वयं भी उस बच्चे के साथ खेल रहा है । इस क्रिया के करने से कुछ ही दिन में वह बच्चा दीखने लगेगा और साधक भी अपने आपको बच्चा ही महसूस करेगा । यह क्रिया इस जीवन तत्त्व साधन की प्राणभूत है । इस क्रिया के करने से स्वाभाविक आह्लाद प्राप्त होता है उस के फलस्वरूप सभी रोगों की निवृत्ति स्वत: ही हो जाती है। हृदय रोग उच्चरक्त चाप तथा मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए इस आसन से बढ़कर कोई इलाज नहीं है।

## (8) नाड़ी संचालन
(समय-पन्द्रह मिनट)

नाड़ी संचालन करने के लिये सीधे बैठ जाइये । सीधे बैठ कर अपने पैरों को जितना हो सके अधिक से अधिक फैलाओ । इस तरह फैलाने पर घुटने के नीचे का भाग और पैर की पिंडली बिल्कुल जमीन से सटी रहनी चाहिए । दोनों पैरों के बीच का व्यवधान कम से कम सात बालिस्त का होना चाहिए। ऐसा पैर फैलाने के बाद थोड़ा शरीर को आगे की ओर झुकाकर दाहिने हाथ की अंगुलियों से बायें पैर के अंगूठे को छुओ और बायें हाथ को एकदम पीछे ले जाओ । उसी प्रकार

से फिर दायें हाथ को घुमाकर पीछे ले जाओ और चक्राकार घुमाते रहो इस क्रिया का नाम नाड़ी संचालन है । इसके करने से गृहणी नाड़ी अपनी यथार्थ स्थिति में रहती है, मन्दाग्नि की निवृत्ति होती है और शरीर में पूर्ण रूपेण रक्त रस का संचार होता है । यह क्रिया भी अन्य क्रियाओं की भांति यौगिक व्यायामों में परम लाभदायक है।

## (९) उत्क्षेपण
(केवल एक मिनट)

इसमें खड़े होकर के अपने हाथ और पैरों को क्रमशः झटक देना चाहिए इससे शरीर में एक प्रकार की नई चेतना सी आ जाती है और साधक सचेत होकर यथार्थ स्थिति में आकर अन्य कार्यों के लिए तैयार हो जाता है।

(अध्याय ५)

# अष्टांगयोग

योग के आठ अंग होते हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं:-

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन आठ अंगों से युक्त होने के कारण राजयोग को ही अष्टांग योग कहा जाता है । यम और नियम योग विद्या के आधार-स्तम्भ हैं । अत: इनका पालन बड़ी तत्परता के साथ करना चाहिए ।

## (1) यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहलाते हैं ।

**अहिंसा-** मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को किंचित् मात्र भी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

जो साधक अहिंसा का दृढ़ता से पालन करता है, उसके निकटवर्ती जीव भी उससे वैर-भाव त्याग देते हैं । ऋषियों के आश्रमों में शेर, हिरण, साँप, मोर आदि स्वभाव से एक दूसरे के वैरी प्राणी वैरभाव भुलाकर प्रेमपूर्वक एक साथ रहा करते थे।

हमारे परमपूज्य गुरूदेव जी अपने साधनाकाल में जब चण्डी पर्वत पर घोर तपाचरण किया करते थे तो बड़े-2 जहरीले बिच्छू उनके शरीर पर चढ़े रहते थे, किन्तु काटते नहीं थे ।

**सत्य-** आँखों द्वारा देखकर, कानों से सुनकर तथा बुद्धि द्वारा विचार कर अनुभव के आधार पर हितकर, प्रिय और हितार्थ वचन बोलना तथा उसी के अनुरूप व्यवहार करना 'सत्य कहलाता है ।

सत्य का दृढ़ता से पालन करने पर मनुष्य की वाणी में सत्य का वास हो जाता है तथा उसे वरदान या शाप देने की योग्यता प्राप्त हो जाती है ।

**अस्तेय**–पराये धन को मिट्टी के समान समझना तथा परिश्रम और न्याय से कमाये धन का उपभोग करना 'अस्तेय' कहलाता है । अस्तेय का अर्थ है – चोरी न करने का भाव ।

जब साधक में यह गुण पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है तो पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए रत्न उसके सामने प्रकट होते हैं ।

**ब्रह्मचर्य**–मन, वाणी और कर्म से होने वाले सभी प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है ।

**अपरिग्रह**–अपने उपभोग के लिए ममता पूर्वक धनसम्पत्ति और भोग सामग्री का संचय न करना 'अपरिग्रह' है ।

जब योगी में अपरिग्रह का भाव पूर्णतया आ जाता है, तो उसे अपने पूर्वजन्मों तथा वर्तमान में परोक्ष की सभी बातों का पता चल जाता है । उसे अपने से सम्बन्धित घटनाओं का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि दूसरों के बारे में भी बहुत सी परोक्ष बातों का पता चल जाता है ।

## (2) नियम

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्राणिधान ये पाँच 'नियम' कहलाते हैं ।

**शौच**– शौच का अर्थ है–सफाई । जल–मिट्टी आदि द्वारा शरीर के बाहरी अंगों की शुद्धि, नेति, धौति, वस्ति आदि पट्कर्मों द्वारा भीतरी अंगों की शुद्धि और जप–तप आदि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

शौच (पवित्रता) का पूरी तरह पालन करने से साधक की अपने शरीर में भी अपवित्र बुद्धि हो जाती है और वह दूसरों का संसर्ग नहीं चाहता । इस प्रकार उसका देहाभिमान नष्ट होता जाता है तथा तीव्र वैराग्य के भाव जाग्रत हो जाते हैं।

शौच को शारीरिक तप कहा गया है । अतः इसका पालन तत्परता से करना चाहिए ।

**सन्तोष**–फल की चिन्ता न रखते हुए कर्त्तव्य कर्म का पालन करते रहना,

किसी प्रकार की कामना या तृष्णा का न होना तथा हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कहलाता है ।

इस नियम का पालन करने से सर्वोत्तम सुख लाभ होता है ।

**तप**–व्रत उपवास करना, यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करना तथा सर्दी-गर्मी, भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख दुःख रूप सभी द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करना 'तप' कहलाता है ।

तप की गणना क्रियायोग में की गई है । यह विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए योग-सिद्धि का एक उत्तम उपाय है ।

तप के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों के समस्त मल नष्ट हो जाते हैं, जिससे योगी का शरीर स्वस्थ, निर्मल एवं हल्का हो जाता है तथा उसे कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है । साथ ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । जिससे मन की व्याकुलता नष्ट होकर उसमें सदैव प्रसन्नता एवं एकाग्रता बनी रहती है ।

**स्वाध्याय**-पवित्र मन्त्रों का जाप तथा गीता, रामायण पुराण, उपनिषद् आदि मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन व मनन 'स्वाध्याय' कहलाता है । स्वाध्याय से साधक का चित्त राग-द्वेषादि मलों से रहित हो जाता है और उसे ईश्वरानुग्रह प्राप्त होता है । देवता तथा सिद्धपुरुष स्वाध्यायशील व्यक्ति को दर्शन देते हैं और बिना माँगे ही उसकी सहायता किया करते हैं ।

स्वाध्याय को वाणी का तप कहा गया है । योग साधना में स्वाध्याय का विशेष महत्व है । अतः प्रत्येक साधक को स्वाध्यायशील बने रहना चाहिए । नए साधकों को शास्त्रों के अध्ययन में अधिकाधिक रुचि रखनी चाहिए । गीता तथा रामायण दो ऐसे ग्रन्थ रत्न है, जिसे कम पढ़े लिखे लोग भी समझ सकते हैं और उसका अध्ययन मनन द्वारा वे स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं ।

मन्त्र जप रूप स्वाध्याय की तो महिमा निराली है । उसे एक उत्कृष्ट स्वाध्याय तथा साधक की गुप्त साधना कहा जा सकता है । उसका वर्णन आगे किया जायेगा ।

**ईश्वर प्रणिधान**–ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है-ईश्वर की अनन्य शरणागति।

शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण एवं बुद्धि आदि सब बाह्य तथा आन्तरिक करणों, उनसे होने वाले सभी कर्मों और फलों को ईश्वर के समर्पण कर देना, ईश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरे प्राणाधार, माता-पिता, बन्धु तथा सखा हैं । इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखते हुए हर स्थिति में प्रसन्न चित्त एवं सन्तुष्ट रहना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर प्रणिधान योग सिद्धि का एक सरल तथा श्रेष्ठ मार्ग है । जो साधक उस सर्व शक्तिमान, सबके परम् आश्रय तथा अहैतुक दयालु प्रभु की शरण ले लेता है उसका पूरा भार वे दयासागर स्वयं उठा लेते हैं ।

योग मार्ग के पथिक को यम-नियमों का पूरी तरह पालन करना चाहिए । क्योंकि यम-नियमों के पालन से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ही परमात्म तत्त्व प्रकाशित होता है । जैसे:-

**सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा,**
**सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।**
**अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,**
**यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।**

शरीर के भीतर हृदय देश में विराजमान स्वतः प्रकाशस्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन सत्य भाषण, तपश्चर्या तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही देख सकते हैं ।

## (3) आसन

योग का तीसरा अंग 'आसन' है । ''आस्यते अनेनेति आसनम्'' इस परिभाषा के अनुसार मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के बैठने की स्वाभाविक मुद्रा को आसन कहा गया है । आसन चौरासी होते हैं और उनमें से निम्नलिखित नौ आसन मुख्य माने गये हैं । स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, सिद्धासन और सुखासन ।

### (1) स्वस्तिकासन :

दोनों पांवों के तलवों को घुटनों और जंघाओं के बीच में रखकर गर्दन, कमर और छाती को एक सूत्र में रखते हुए बैठने की विधि को स्वस्तिकासन कहा जाता

है । इस आसन का नित्यप्रति अभ्यास करना चाहिये ।

(2) गोमुखासन :

दाहिनी ओर के घुटने को बाँयी और के पृष्ठ भाग तक ले जाय और बांयी ओर के घुटने को दांयी ओर पीछे तक ले जाय । यह स्थिति 'गोमुखासन' कहलाती है ।

(3) पद्मासन :

धरती पर या किसी तख्त पर कम्बल अथवा कोई अन्य आसन बिछाकर सीधे बैठ जाइये । छाती और गर्दन को एक सीध में रखते हुए अपना दायां पैर वायीं जांघ पर रखें और वायां पैर दायीं जांघ पर रखिये । ऐसा करने पर दोनों पैरों की एड़ियॉ पेट के निचले भाग को दोनों ओर सटी रहेंगी । अब दोनों हाथों को तानकर घुटनों पर रखिये । आंगुलियॉ घुटनों पर टिकी रहनी चाहिये । यह पद्मासन की विधि है ।यह आसन ध्यानाभ्यास के लिये सर्वश्रेष्ठ आसन है । इस आसन के अभ्यास से सब प्रकार के वायुविकार एवं पेट सम्बन्धी रोग दूर हो जाते है ।

(4) वीरासन :

बांये पैर को दांयी जांघ पर रखे और शरीर को सीधा रखकर बैठ जाय । इसे 'वीरासन' कहा गया है ।

(5) सिंहासन :

दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे और दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर सब अंगुलियाँ फैलाकर बैठ जाय । मुंह खोलकर जीभ बाहर को निकाले और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करे । यह सिंहासन कहलाता है ।

(6) भद्रासन :

दोनों घुटनों को अंडकोष के नीचे पार्श्वों में रखे और दोनों हाथों से पाँवों को मजबूती से पकड़कर बैठे । यह भद्रासन की विधि है । यह आसन विष से उत्पन्न हुए रोगों को नष्ट करने वाला है ।

(7) मुक्तासन :

सींवनी की बारीक रेखा को बांये घुटने से दवाकर और दाँये घुटने से बांये घुटने को दबाने पर 'मुक्तासन' बनता है ।

(8) सिद्धासन :

वांये पैर की एड़ी को गुदाद्वार के नीचे टिकाकर रखें और दांये पैर की एड़ी को लिंगनाल के ऊपर टिकाकर रखें । रीढ़ की हड्डी तथा गर्दन सीधी रखते हुए दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के ऊपर रखकर गोदी में टिकाकर रख दें । यह आसन ब्रह्मचर्य के पालन और कुण्डलिनी जागरण में बहुत सहायक होता है ।

(9) सुखासन :

दोनों पांवों के घुटने उठाकर दाहिने पांव को बांई तरफ और बाँए पैर को दाहिनी तरफ रखिये । दोनों हाथों को तानकर घुटनों के साथ बाहर की ओर सटाकर रख दें । अंगुलियाँ नीचे की ओर लटकती रहें । इस आसन से अधिक समय तक बैठने पर भी कोई कष्ट नहीं होता । अत: इसे सुखासन कहा जाता है ।

प्रत्येक साधक को उपरोक्त आसनों में से एक का अवश्य अभ्यास करते रहना चाहिये और निरन्तर अभ्यास से उसे सिद्ध कर लेना चाहिये । आसन सिद्धि का महत्त्व बताते हुए योगशास्त्र में कहा गया है :

**आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।**

अर्थात् जिसने आसन को जीत लिया है, उसने त्रिलोकी को ही जीत लिया समझो ।

## (4) प्राणायाम

योगशास्त्र में यह निर्देश दिया गया है कि आसन दृढ़ हो जाने पर योगसाधक को जितेन्द्रिय बनकर तथा हितकारी मिताहार का सेवन करते हुए सुषुम्ना नाड़ी में रहने वाले मल को सुखाने के लिये निम्नलिखित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।

**प्राणं प्रागिडया पिवेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत् ।**

**पीत्वा पिंगलयासमीरणमथो बद्धवा त्यजेद्वामया ।।**
**सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वताम् ।**
**शुद्धाः नाडिगणाः भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ।।**

साधक को चाहिये कि वह पहले इड़ा नाड़ी से वायु खींचकर अन्दर ले जाये और यथाशक्ति कुम्भक करे (उसे अन्दर रोके रखे) । फिर पिंगला नाड़ी द्वारा रेचक करे। अर्थात् सांस को धीरे-धीरे बाहर छोड़ दे । इसके बाद पिंगला से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर इड़ा नाड़ी से रेचक करे । इस प्रकार सूर्य-चन्द्र (इड़ा-पिंगला) नाड़ियों द्वारा प्राणायाम का नित्यप्रति अभ्यास करने से योगी की समस्त नाड़ियाँ तीन महीने में शुद्ध हो जाती है ।

अभ्यास के आरम्भ में घी और दूध का भोजन उत्तम बतलाया गया है । फिर अभ्यास स्थिर हो जाने पर किसी नियम की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

प्राणायाम का अभ्यास अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिये । अन्यथा यह क्रिया साधक के लिये घातक भी सिद्ध हो सकती है ।

**यथा सिंहः गजो व्याघ्रः भवेत् वश्यः शनैः शनैः ।**
**तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।।**
**युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।**
**युक्तं युक्तेन बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ।।**

जिस प्रकार सिंह, हाथी, वाघ आदि को धीरे-धीरे वश में किया जाता है, वैसे ही शनैः-शनैः प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राण वश में हो जाते हैं । अन्यथा जल्दबाजी करने से वही वायु साधक को मार डालती है । इसलिये उचित मात्रा में ही रेचक करना चाहिये, उचित मात्रा में ही पूरक करना चाहिये और उचित मात्रा में ही कुम्भक करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

**यथेष्टधारण वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।**
**नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ।।**

शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं । जिससे नाद श्रवण होता है और आरोग्यता प्राप्त होती है ।

## प्राणायाम का फल

प्राणायाम योग का एक विशिष्ट अंग है । शास्त्रों में इसे एक उत्कृष्ट तप बताया गया है । प्राणायाम का फल बताते हुए मनुस्मृति में कहा गया है :

**दह्यन्ते ध्मायमानानां,**
**धातूनां हि यथा मलाः ।**
**तथैन्द्रियाणां दह्यन्ते,**
**मलाः प्राणस्य निग्रहात् ।।**

जिस प्रकार सोना-चाँदी आदि धातुओं के मल उसे आग में तपाये जाने से नष्ट हो जाते है । उसी प्रकार प्राणायाम करने से आँख, कान आदि इन्द्रियों के समस्त मल जलकर नष्ट हो जाते है ।

महर्षि पतंजलि देव महाराज का भी यही मन्तव्य है । उन्होंने अपने योगदर्शन के समाधिपाद में निम्नलिखित दो सूत्रों के द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की पुष्टि की है।

**प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां व प्राणस्य ।।**
**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।**

इन दो सूत्रों में यह बात स्पष्ट कर रखी है कि प्राणायाम करने से चित्तवृत्तियों का निरोध होकर साधक को समाधि लाभ हो जाता है तथा प्रकाश का आवरण हट जाने से उसे दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि योगसिद्धियां मिल जाती है ।

देखा-देखी दूसरों से सुनकर या पुस्तकों में पढ़कर प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये । क्योंकि हर व्यक्ति प्राणायाम का अधिकारी नहीं होता । अधिकारी साधक को भी अनुभवी गुरु के निर्देशन में ही प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

सामान्य साधकों को किसी निश्चित आसन पर बैठकर श्वास-प्रश्वास द्वारा अपने गुरुमन्त्र का जाप करते रहना चाहिये । निरन्तर अभ्यास करते रहने से कालान्तर में प्राणायाम की सभी क्रियायें स्वतः होने लगेंगी । मन एकाग्र होकर समाधि की ओर बढ़ने लगेगा और ''यत्र मनो लीयते तत्र प्राणोऽपि लीयते'' इस सिद्धान्त के

अनुसार मन पर संयम हो जाने से प्राण स्वयं ही वश में हो जायेगा ।

योगशास्त्र में आठ प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख मिलता है ।

1. सूर्यभेदी
2. उज्जायी
3. शीत्कारी
4. शीतली
5. भस्तिका
6. भ्रामरी
7. मूर्च्छा
8. प्लाविनी

इनमें से निम्नालिखित चार प्रकार के प्राणायाम विशेष महत्वपूर्ण हैं । ये चारों प्राणायाम शारीरिक तथा मानसिक आरोग्य लाभ देने के साथ साथ ध्यानाभ्यास में भी अत्यन्त सहायक हैं । योग कुण्डलिनी उपनिषद में इसका सविस्तार वर्णन किया गया है ।

## (सूर्यभेदन प्राणायाम की विधि)

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुः प्रमाणपर्यन्त शीताग्निजलवर्जिते ।।
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे शुभे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ।।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ।।
कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः ।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ।।
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।।

एकान्त में पवित्र स्थान में जहां कंकड़-पत्थर आदि न हों और आस-पास घास, अग्नि और जल आदि न हों और न अधिक ऊँचे और न अधिक नीचे सुखदायक पवित्र आसन पर बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और सरस्वती का चालन करे।

सरस्वतीचालन की विधि यह है :-

साधक अपनी दाहिनी नासिका से बाहर की वायु को धीरे-धीरे अन्दर की ओर खींचे और पर्याप्त मात्रा में वायु के भीतर प्रवेश कर जाने पर बाँयी नासिका से उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल दे । कपाल शोधन की क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे रेचन करे । इस क्रिया को सूर्यभेदन कहते हैं । इसका अभ्यास बार-बार करते रहना चाहिये । इससे चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं ।

## (उज्जायी प्राणायाम)

**मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।**
**यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनं ।।**
**पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।**
**शीर्षोदितानलहरो गलश्लेष्महरः परम् ।।**
**सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ।।**
**नाडी जलोदर धातुदोषविनाशनम् ।**
**गच्छतः तिष्ठतः कार्यमुज्जायाख्यं तु कुम्भकम् ।।**

मुख बन्द करके दोनों नासाछिद्रों से वायु को धीरे से खींचे जिससे वह शब्द करती हुई कंठ से लेकर हृदय तक भर जाय । फिर पहले की भाँति कुम्भक करके बाँयी नासिका से उसे बाहर निकाल दें । इस क्रिया से मस्तिक की गर्मी, गले का कफ तथा अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और शरीर की अग्नि बढ़ जाती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर तथा धातु सम्बन्धी रोग दूर होते हैं । इस उज्जायी नामक कुम्भक को चलते-फिरते, खड़े रहते हर स्थिति में करते रहना चाहिये ।

## (शीतली प्राणायाम)

**जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।**
**शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ।।**
**गुल्मप्लीहादिका दोषाः क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम् ।**
**विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ।।**

इस प्राणायाम में साधक जिहा द्वारा वायु को खींचकर अर्थात् जिहा को कौवे

की चोंच की तरह गोल करके उससे वायु को भीतर खींचे और तदनन्तर नासिका के दोनों छिद्रों से शनैःशनैः उसे बाहर निकाल दे । इस शीतलीनामक कुम्भक से गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, क्षय और तृषा आदि दोष दूर हो जाते हैं तथा हर प्रकार के विषों को यह प्राणायाम समूल नष्ट कर देता है ।

## (भस्त्रिका प्राणायाम)

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।।
यथा लगति कंठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत्किञ्चिद् धृतपद्मावधि मारुतम् ।।
पुनर्विरेचयेत्तद्वपूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते ।।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ।।
यथोदरं भवेत्पूर्ण पवनेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ।।
कुम्भकं पूर्ववात्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ।।
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापध्नं सुखदं शुभम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थं कफादिमलनाशकम् ।।
गुणत्रयसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेण कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकमिदम् ।।

भस्त्रिका प्राणायाम में साधक को चाहिये कि वह पद्मसान लगाकर बैठ जाय। गर्दन, सिर तथा वक्षस्थल को एक सोध में सीधा रखे और मुख को बन्द करके वायु को सावधानीपूर्वक नाक से रेचन करे (बाहर निकाले) । फिर वायु को शब्द करते हुए वेगपूर्वक अन्दर को इस प्रकार खींचे कि कण्ठ, कपाल, तालु और हृदय तक पहुँच जाय । फिर उसे बाहर निकालकर पूर्ववत् वायु को अन्दर खींचे । इस प्रकार वायु को वेगपूर्वक बार-बार इस भांति खींचता जाय जैसे लोहार की धोंकनी

चलती है । जब थकावट मालूम पड़े तो वायु को सूर्य नाड़ी से (दाहिने नासाछिद्र से) भीतर खींचे और उसे पेट तक अन्दर भर दे । फिर तर्जनी के अतिरिक्त शेष चारों उंगलियों से नासिका को मध्य से दृढ़तापूर्वक पकड़कर कुम्भक करे अर्थात् वायु को अन्दर रोके और फिर बांयी नाक से रेचक कर दे । यह प्राणायाम कंठ की जलन को मिटाता है और शरीर की अग्नि को बढ़ाता है । यह कुण्डलिनी को जगाने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक, शुभकारी और सुखदायक है । यह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों को भेदन करने वाला है । इसलिये इस भस्त्रिका नामक प्राणायाम का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये ।

## (5) प्रत्याहार

'प्रत्याहार' का अर्थ है - इन्द्रियों का अपने विषयों से पीछे हट जाना । अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि विषयों का अनुभव न करना । योगदर्शन में प्रत्याहार का वर्णन करते हुए प्रातः स्मरणीय पतंजलिदेव जी महाराज ने यह सूत्र लिखा है :-

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।**

(यो० द० २।५४)

अर्थात्-इन्द्रियों की बाह्मवृत्ति को सब ओर से समेट कर मन में विलीन करने का अभ्यास 'प्रत्याहार' कहलाता है । जब साधक इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके चित्त को अपने ध्येय में लगाता है, उस समय इन्द्रियों का जो विषयों की ओर न जाकर चित्त में विलीन सा हो जाता है, उसे ही प्रत्याहार कहा जाता है ।

इस क्रिया में इन्द्रियाँ बहिर्मुखता से पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं । जिस प्रकार रानी मक्खी के उड़ने पर शेष सभी मधुमक्खियाँ उड़ने लगती हैं और उसके बैठने पर बैठ जाती हैं । इसी प्रकार चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है तब इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं । यही उनका प्रत्याहार है । मोटे शब्दों में प्रत्याहार का अर्थ है-मन को विषयों के चिन्तन से बिल्कुल-बिल्कुल हटाकर उसे संकल्पशून्य बना देना । अर्थात् मन में जो भी विचार उठे उसे बलात् हटा देना । गीता के छठे अध्याय में ध्यानयोग के प्रकरण में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने यही आदेश दिया है :-

**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।**

**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।**

(गीता ६।२६)

अर्थात् यह स्थिर न रहने वाला अत्यन्त चञ्चल मन जिस विषय के पीछे संसार में विचरता है, उस-उस विषय से इसे हटाकर बार-बार परमात्मा के चिन्तन में ही लगाते रहना चाहिए ।

जाबालदर्शनोपनिषद् में प्रत्याहार का स्वरूप बताते हुए भगवान् दत्तात्रेय जी महाराज कहते हैं :-

**इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।।**
**बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।।**

स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक वहाँ से लौटा लाने को प्रत्याहार कहा जाता है ।

**(दूसरे प्रकार का प्रत्याहार)**

**यत्यश्यति तु तत्सर्व ब्रह्म पश्यन् समाहितः ।**
**प्रत्याहारो भवेदेषः ब्रह्मविदिभः पुरोहितः ।।**

हमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह ब्रह्ममय है, ऐसी भावना करते हुए ब्रह्म (परमात्मा) में मन को एकाग्र कर लेने को ब्रह्मवादियों ने प्रत्याहार कहा है ।

**(तीसरे प्रकार का प्रत्याहार)**

**यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ।**
**तत्सर्व ब्रह्मणे कुर्यातप्रत्याहारः स उच्यते ।।**

मनुष्य मृत्युपर्यन्त जो भी शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है, वह उन सब कर्मों को परमेश्वर के लिये समर्पित कर दे । यह भी प्रत्याहार ही कहलाता है ।

गीता के नौवें अध्याय के २७वें श्लोक में यह बात ज्यों की त्यों कही गई है:-

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत् ।**
**यत्तपश्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।**

हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और स्वधर्म पालन रूप जो तप करता है, वह सब मुझ परमात्मा के अर्पण कर दे ।

अन्तर्जगत में प्रवेश पाने का मुख्य साधन प्रत्याहार ही है । बिना प्रत्याहार के मनुष्य धारणा, ध्यान एवं समाधि रूप अन्तरंग योग में आरूढ़ नहीं हो सकता । अत: कल्याणकामी साधक को प्रत्याहार के द्वारा अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने की चेष्टा करनी चाहिये । अन्तर्मुखता ही कल्याण का एकमात्र साधन है ।

## (6) धारणा

धारणा क्या है ? इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने अपने योगदर्शन में लिखा है :

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।**

अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, आज्ञाचक्र आदि अपने शरीर के अन्दर स्थित चक्रों में अथवा आकाश, सूर्य, चन्द्रमा या किसी मूर्ति में चित्त को ठहराने का नाम धारणा है ।

जाबालदर्शनोपनिषद में पांच प्रकार की धारणायें बताई गई है जो इस प्रकार है :-

अपने देह में जो आकाश स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिये ।

इसी प्रकार प्राण में बाह्य पवन की, जठराग्नि में बाह्म अग्नि की, देह में स्थित जलांश में बाह्म जल की तथा पार्थिव भाग में सम्पूर्ण पृथ्वी की धारणा करे । प्रत्येक धारणा के समय हं यं वं रं लं इन बीजमन्त्रों का क्रमश: उच्चारण करे । इस धारणा को सर्वश्रेष्ठ धारणा कहा गया है । यह सब प्रकार के पापों को नाश करने वाली है।

**जान्वन्तः पृथिवी ह्यंशो अपां पार्श्वन्तमुच्यते ।**
**हृदयान्तोऽनलांशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ।।**
**आकाशांशस्तथा प्राज्ञ ! मूर्धान्तः परिकीर्तित ।**
**ब्रह्माणं पृथिवी भागे विष्णुं तोयांशके तथा ।।**
**अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके ।**
**आकाशांशे महाप्राज्ञ ? धारयेत्तु सदाशिवम् ।।**

पाँव से घुटने तक का भाग पृथ्वी का अंश माना गया है । घुटने से गुदा तक का भाग जलीय अंश, गुदा से हृदय तक का अग्नि का अंश, हृदय से भौहों तक वायु का और मस्तक भाग आकाश का अंश कहा गया है । पृथ्वी के अंश में ब्रह्मा की, जलांश में विष्णु की, अग्नि के अंश में महेश्वर की, वायु के अंश में ईश्वर की (सद्गुरु की) और आकाश के अंश में भगवान् सदाशिव की धारणा करना चाहिये।

## (7) ध्यान

संस्कृत की ''ध्यै-चिन्तायाम्'' धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः ध्यान का अर्थ है-परमात्मतत्त्व का सतत चिन्तन होते रहना, एक क्षण के लिये भी मन का उस ओर से न हटना । योगदर्शन में ध्यान की परिभाषा बताते हुए महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने लिखा है :

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।।**

अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसमें वह इतना एकाग्र हो जाय कि-केवल ध्येयमात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलता रहे । इस बीच साधक के चित्त में दूसरी वृत्ति उठे ही नहीं । यही स्थिति ध्यान कहलाती है।

गीता के छठे अध्याय के १९वें श्लोक में योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण जी महाराज ने ध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट निर्णय दे रखा है :-

**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्ग.ते सोपमा स्मृता ।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।**

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक बिल्कुल भी चलायमान नहीं

होता । उसकी लौ (ज्योति) एकदम टिकी रहती है, तनिक भी हिलती डुलती नहीं है। वही उपमा परमेश्वर के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है ।

ध्यानाभ्यास से चित्त को विक्षिप्त करने वाली क्लिष्ट वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नष्ट हो जाता है तथा अन्तःकरण शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है । अतः संयम-सिद्धि के लिये ध्यानाभ्यास अत्यन्त आवश्यक है ।

ध्यानाभ्यास के लिये साधक को किसी एकान्त और पवित्र स्थान में समतल भूमि पर मृगछाला, कुशा अथवा गर्म वस्त्र का आसन बिछाकर-स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि किसी सुखासन पर (ऐसे आसन पर जिसमें बिना कष्ट के अधिक समय तक बैठा जा सके) बैठने का अभ्यास करना चाहिए । उस समय कमर, छाती एवं गर्दन तीनों एक सूत्र में रहने चाहिए । अर्थात् रीढ़ की हड्डी तनी रहे ।

इस प्रकार बैठकर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखते हुए तथा मन को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ।

ध्यान की विधि गीता के छठे अध्याय में श्लोक संख्या 10 से 19 तक तथा योगदर्शन के समाधिपाद में विस्तारपूर्णक बताई गई है फिर भी पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ कुछ सरल उपाय बतलाये जा रहे हैं:-

साधक को चाहिए कि वह पहले तो अपने इष्टदेव की मूर्ति (चित्र आदि) को सामने रखकर उस पर टकटकी बाँधकर स्थूल ध्यान करे । फिर उस स्वरूप को अपने हृदय में बैठाते हुए आँखें मूँद कर सूक्ष्म ध्यान करे । ध्यान अपने शरीर के ही नाभि, हृदय, भूमध्य, नासिका आदि किसी अंग में करना चाहिए । उस समय मन को समस्त विचारों से शून्य कर लेना चाहिए । अर्थात् मन में कोई भी विचार नहीं उठने देना चाहिए।

क्योंकि ध्यान से पूर्व प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास भी जरूरी है । अतः सर्वप्रथम प्रत्याहार द्वारा मन से सांसारिक विषयों को बलात् हटाते रहना चाहिए और उनके स्थान पर ध्येय वस्तु को लाकर धारणा द्वारा मन को उस ध्येय विषय पर बांधे रखने का अभ्यास करना चाहिए । धारणा सिद्ध हो जाने पर ध्यान स्वतः सिद्ध होता जायेगा ।

ध्यान से पहले कुछ समय तक उपांशु जप अवश्य कर लेना चाहिए तथा ध्यान के समय भी प्राणायाम की रीति से श्वास-प्रश्वास से मन्त्र जप अथवा मानसिक जप करना चाहिए ।

'ॐ' की गुंजार करना और मन ही मन उस ध्वनि को सुनने का अभ्यास करना भी ध्यान स्थिति बनाने में सहायक हो सकता है ।

यह कल्पना करना कि - 'मै किसी दिव्य देवालय में, रमणीक उद्यान में, पवित्र तीर्थस्थली में अथवा सुन्दर वन में बैठा हुआ ध्यान मग्न हूँ' ध्यानाभ्यास में सहायक हो सकता है । यदि मन किसी भी विषय पर एकाग्र न होता हो तो अपनी ध्यान मुद्रा को ही धारणा का विषय बना लेना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से मन एकाग्र हो जायेगा और कुछ समय बाद अपना स्वरूप ही अपने इष्टदेव के स्वरूप में दिखाई देने लगेगा।

स्वप्न में देखे दिव्य दृश्यों एवं अपने इष्टदेव के स्वरूप का चिन्तन करने से मन एकाग्र हो जाता है । इसी प्रकार अपने इष्टदेव के विशेष कृपा पात्र भक्तों तथा बीतराग महापुरुषों का ध्यान करने से भी ध्यानाभ्यास में सफलता मिलती है । उदाहरणार्थ यदि भगवान् राम को आप अपना इष्ट मानते हैं और उनके स्वरूप पर आपका मन एकाग्र नहीं होता है तो आप राम भक्त हनूमान का ध्यान कीजिए, यदि श्री कृष्ण आपके इष्ट हैं तो कृष्ण भक्त अर्जुन, सुदामा, राधिका जी मीराबाई आदि किसी का चिन्तन कीजिए, यदि आप गुरुदेव को ही अपना इष्ट मानते हैं तो आप गुरुदेव के विशेष कृपा पात्र किसी गुरुभक्त साधक का चिन्तन कीजिए । इससे ध्यान स्थिति में अवश्य सहायता मिलेगी ।

ध्यान के समय मन जहाँ भी पहुँचे, वहीं अपने ध्येय (परमात्मा) को देखने का अभ्यास करना चाहिए। यदि अधिक न बैठा जा सके तो किसी तख्त या जमीन पर सीधा लेटकर ध्यानाभ्यास किया जा सकता है।

सोने से पूर्व कुछ समय बैठकर अथवा सीधा लेट कर मन्त्र जाप एवं ध्यानाभ्यास करना चाहिए । उस समय अपने इष्टदेव के चिन्तन के अतिरिक्त कोई भी विचार मन में न उठने देना चाहिए । ध्यान करते करते यदि निद्रा आ जाये तो वह निद्रा योग निद्रा में बदल जायेगी और सारी रात भजन होता रहेगा । इस सम्बन्ध में क्षण-2 स्मरणीय हमारे परम पूज्य गुरुदेव अपने प्रवचनों में प्रायः कहा करते हैं :-

सोवन तो सबसे भला जो कोई जाने सोय ।
अन्तर्लौ लागी रहे सहजहिं सुमिरन होय ।।

**सर्वत्र भगवद्दर्शन का अभ्यासः–** अनन्त गगन मण्डल को एक टक निहारते हुए ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि हमारे परम आराध्य इष्टदेव अखण्ड मण्डलाकार रूप से विराजमान होकर मन्द-2 मुस्करा रहे हैं ।

''हरे राम हरे कृष्ण'' की ध्वनि गुनगुनाते हुए किसी वृक्ष की ओर देखकर यह कल्पना करनी चाहिए कि इसके प्रत्येक पत्ते में श्री श्यामसुन्दर सुशोभित हैं और मुरली की मधुर ध्वनि वर्षा रहे हैं ।

नदी का कलकल नाद, पक्षियों की चहचहाहट तथा घड़ी की टिक-टिक आवाज में गुरु मन्त्र की भावना करते हुए उस पर मन एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करते करते ध्यान स्थिति बन जायेगी और अनायास ही प्रभु दर्शन होने लगेंगे । फिर क्या है :- **''जित देखो तित श्याममयी है''।**

## (8) समाधि

योग का अन्तिम अंग समाधि है । इसी की पृष्टि के लिये हमारे अनुभवी योगाचार्य महानुभावों ने अष्टांगयोग का उपदेश किया है । वस्तुतः समाधि ही योग है और यही मनुष्य के लिये परम प्राप्तव्य है ।

योगदर्शन में अष्टांगयोग के अन्तर्गत समाधि की विशेषरूप से व्याख्या की गई है तथा धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का परस्पर अंग-अंगी भाव सम्बन्ध बतलाया गया है । इन तीनों में समाधि तो अंगी है । और धारणा तथा ध्यान उसके अंग है । धारणाकाल में चित्त की विषयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है । वह त्रिपुटी है ध्याता, ध्यान और ध्येय । ध्याता (ध्यान करने वाला) चित्त है, चित्त की वह वृत्ति जिसके द्वारा किसी विषय का ध्यान किया जाता है ''ध्यान'' कहलाता है और जिसका ध्यान किया जाता है वह विषय ''ध्येय'' कहलाता है । समाधि में ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूप से शून्य होकर ध्येयरूप में भाषित होने लगते हैं । अर्थात् ध्यान करने वाला साधक अपने ध्येय विषय में इस प्रकार लय हो जाता है कि वह अपने स्वरूप को भी भूल जाता है और वह जिसका ध्यान कर रहा हो उसी को ही अपंना स्वरूप समझने लगता है ।

**तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।**

(योगदर्शन - ३।३)

अर्थात् अभ्यास के बल से जब ध्यान अपने ध्यानाकार रूप से रहित होकर केवल ध्येयस्वरूप में प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाती है । इससे पूर्व ध्यानावस्था में ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को पूरी तरह प्रकाशित नहीं करती, क्योंकि उसमें साधक को यह आभास होता रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, फलाने का ध्यान कर रहा हूँ आदि । लेकिन समाधि मे ध्येय केवल अर्थमात्र से भासता है और अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है ।

अध्याय ६

# ध्यानयोग में सहायक कुछ महत्त्वपूर्ण साधन

## (क) मौन

वाणी पर संयम करते हुए कम से कम बोल कर व्यवहार करना मौन कहलाता है । मौन को मानसिक तप कहा गया है इससे अनेक लाभ है इसके अभ्यास से मन की स्वभाविक चंचलता नष्ट होकर वह शान्त एवं एकाग्र रहता है। एकाग्रता का बल पाकर वह अपने ध्येय (परमात्मा) के चिन्तन में लगा रहता है और चिन्तन का अभ्यास हो जाने पर साधक एकान्त प्रेमी बन जाता है । इस प्रकार उसमें वैराग्य भाव स्वत: ही जाग्रत हो जाता है ।

चूँकि मौन का अभ्यासी साधकु यह बात भली भाँति जानता है कि बोलने से मेरी चिन्तन धारा टूट जायेगी और मन इधर-उधर भटकने लगेगा । अत: वह कम से कम बोलकर काम चलाना चाहता है और इसी उद्देश्य से वह एकान्त की तलाश करता है ।

वाणी पर संयम करने से साधक की संचित आध्यात्मिक शक्ति नष्ट होने से बची रहती है और वह स्वयं भी कई प्रकार की बुराइयों से बचा रहता है । किसी की निन्दा-चुगली करना, झूठ बोलना तथा गाली गलौज करना या कटु शब्दों का प्रयोग करना वाणी का दोष कहलाता है । इस दोष से बचने का एक ही साधन है-'मौन', इस सम्बन्ध में एक कहावत भी प्रचलित है-''कम खाने वाला और गम खाने वाला व्यक्ति सदा सुखी रहता है।'' यहाँ कम खाने का अभिप्राय युक्त-आहार और गम खाने का अर्थ मौन ही है ।

तत्वदर्शी ऋषियों एवं अनुभवी सन्तों ने मौन की महिमा मुक्तकंठ से गाई है । जगदात्मा श्री कृष्ण ने मौन को एक बहुमूल्य गुह्यतम निधि बताते हुए उसे अपना स्वरूप स्वीकार किया है ।

जैसे:-''मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्''

अत: साधकों को चाहिए कि - वे आवश्यक, यथार्थ एवं प्रिय भाषण के लिये ही वाणी का प्रयोग करें और अधिक से अधिक मौन रहने का अभ्यास करें।

यदि हो सके तो वर्ष में कम से कम एक महीना किसी एकान्त और पवित्र स्थान में रहकर मौन-साधना करनी चाहिए ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बाहरी कोलाहल तथा सांसारिक विघ्न-बाधाओं से बचने के लिए ही एकान्त-सेवन किया जाता है किन्तु उस काल में यदि आन्तरिक कोलाहल समाप्त नहीं हुआ तो एकान्त-सेवन और 'मौन' से विशेष लाभ नहीं हो सकता । क्योंकि - आन्तरिक हलचल बाहरी शोरगुल से कहीं अधिक विघ्नकारक है । हमारे आन्तरिक शत्रु अर्थात् काम, क्रोध आदि आसुरी वृत्तियाँ एकान्त में ही शक्ति प्रदर्शन किया करती हैं ।

अत: मौन की दशा में मन को विचारों से बिल्कुल खाली कर देना चाहिए। एक मात्र परमात्मा के चिन्तन के अतिरिक्त मन में और कोई भी विचार नहीं उठने देना चाहिए तथा लगातार मन्त्र जाप करते रहना चाहिए।

किसी प्रकार की अशान्ति, कुण्ठा, कामना, दीनता एवं घृणा के भाव मन में नहीं उठने देना चाहिए। अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है । क्योंकि साधना काल में मन की शक्ति बढ़ जाती है, जिससे उस समय का प्रत्येक विचार अथवा भाव या तो तत्काल फलीभूत हो जाता है या फिर साधना का बल पाकर अधिक परिपक्व होता जाता है ।

'मौन साधना' से चित्तवृत्तियाँ शान्त रहती है तथा अन्त:करण में सत्व का प्रकाश बना रहता है, किन्तु उस काल में यदि मन को एक क्षण के लिए भी मुक्त छोड़ दिया जाये तो फिर वह किसी प्रकार काबू में नही आता । वह दुगुने बल से विषयों में विचरण करता हुआ क्षिप्तावस्था को प्राप्त होकर साधक को मोह,शोक एवं चिन्ता से ग्रस्त कर देता है । अत: इस सम्बन्ध में सतत् सावधान रहना चाहिए ।

## (ख) गुरु भक्ति

**बिनु गुरु भव निधि तरइ न कोई ।**
**जो विरञ्चिं शंकर सम होई ।।**

बिना गुरु के भव-सागर पार नहीं किया जा सकता । गुरुदेव इस संसार रूपी सागर में फँसे हुए मनुष्य को पार लगाने में एक कुशल नाविक का काम करते हैं । अतः गुरु चरणों में अनन्य भक्ति होनी ही चाहिये। गुरु-भक्ति के बिना योग-साधना में सफलता नहीं मिल सकती । श्वेताश्वतरोणनिषद् में कहा भी गया है:-

**यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।**
**तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।**

जो व्यक्ति ईश्वर में परम भक्ति रखता हो और वैसी ही प्रगाढ़ भक्ति श्री गुरु चरणों में भी रखता हो वही मनुष्य इन आध्यात्मिक रहस्यों को समझ सकता है।

गुरु भक्ति अष्टांगयोग का एक महत्वपूर्ण अंग है । नवधा भक्ति में भी गुरु भक्ति को ही विशेष महत्व दिया गया है । गुरुदेव के चरण कमलों में विनीत भाव से बैठकर उनके वचनामृत का पान करना, निरभिमान होकर श्री गुरुचरणों की सेवा करना, उनकी प्रत्येक आज्ञा का उत्साह पूर्वक तत्परता से पालन करना, गुरुदेव के समक्ष असत्य-भाषण या किसी प्रकार का प्रपञ्च न करना, गुरुप्रदत्त मन्त्र का अधिकाधिक जाप करना, गुरु मन्त्र में अक्षर बुद्धि न रखना एवं गुरुदेव में मनुष्य बुद्धि न रखना, दूर रहते हुए भी हमेशा गुरुदेव का सामीप्य अनुभव करते रहना तथा अभिमान रहित होकर एवं श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव को लौकिक रीति से उनकी प्रिय वस्तुएँ तथा वस्त्र आभूषणादि समर्पित करना आदि सभी बातें गुरुभक्ति में सम्मिलित हैं । भक्ति में समर्पण भाव का होना जरूरी है । बिना आत्म-समर्पण की भावना के भक्ति अधूरी है ।

गुरुभक्त साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपना सर्वस्व गुरुदेव के चरणों में न्यौछावर करके निष्काम भाव से एवं निरभिमान होकर उनकी प्रसन्नता के लिए साधना में तत्पर रहे, किन्तु उसे अपनी साधना का एवं गुरूभक्ति का लेशमात्र भी अहंकार नहीं होना चाहिए । उसे तो प्रतिक्षण यह अनुभव करते रहना चाहिए कि 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, मेरे सर्वशक्तिमान गुरुदेव ही मुझे निमित्त बनाकर ये सारी क्रियायें करा रहे हैं।''

शास्त्रों में गुरुभक्ति की महिमा का मुक्त कंठ से गान किया गया है ।

जैसे: -

**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोर्पदम् ।**
**मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोर्कृपा ।।**

गुरुमूर्ति का ध्यान ही मुख्य ध्यान है, गुरुचरणों की पूजा ही सबसे बड़ी पूजा है, गुरुदेव का प्रत्येक वाक्य मन्त्ररूप होता है तथा गुरु कृपा ही मोक्ष का मूल कारण होता है ।

गुरुदेव स्वयं में ही एक रहस्य हैं । अतः उनकी प्रत्येक लीला एवं वचनामृत में गूढ़ रहस्य छिपा रहता है । साधक को उनके मुखारविन्द से निस्सृत प्रत्येक शब्द पर मनन करना चाहिए । इसके अतिरिक्त उसके मन में प्रतिक्षण ये भाव बने रहने चाहिए कि मेरे स्वामी ब्रह्माण्ड भर के स्वामी हैं, मेरे गुरूदेव तीनों लोकों के गुरू हैं तथा मेरी आत्मा समस्त प्राणियों की आत्मा है । जैसे: -

**मन्नाथस्त्रिजगन्नाथः मद्गुरुस्त्रिजगद्गुरुः ।**
**ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्री गुरवे नमः ।।**

मोटे शब्दों में गुरुदेव को एक शक्तिशाली विद्युत केन्द्र भी कहा जा सकता है, जहाँ विशुद्ध परमात्म तत्त्व रूप विद्युत धारा सदा विद्यमान रहती है तथा जिनका परमात्मा रूपी विद्युत संयन्त्र से निरन्तर सम्पर्क बना रहता है । गुरुदेव उस प्रकाश को साधकों तक पहुँचाते हैं, किन्तु यदि हम अपने मन रूपी बटन को ऑफ रखेंगे तो निश्चित ही हमें अन्धकार में रहना पड़ेगा ।

**गुकारं च गुणातीतं रूकारं रूपवर्जितम् ।**
**गुणातीतमरूपं च यो हि स्यात्स गुरुः स्मृतः ।।**

गुकार का अर्थ सत्व-रज-तम रूप तीनों गुणों से अतीत होना है, रूकार का अर्थ रूप से रहित होना है । अतः त्रिगुणातीत एवं रूप रहित ईश्वर की जो परम् सत्ता है वही सद्गुरु कहलाता है ।

उपर्युक्त श्लोक में यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि षट्चक्रों की साधना में गुरुदेव का स्थान छठा चक्र (आज्ञाचक्र) क्यों माना गया है । चूँकि विशुद्ध चक्र

तक पन्चमहाभूतों की स्थिति है । अत: गुणातीत होने के कारण गुरुसता पंचमहाभूतों की सीमा से एवं गुणों के अधिकार क्षेत्र से परे है ।

इससे पूर्व गुरुदेव का स्वरूप एवं गुरु भक्ति का महत्व बताते हुए यह संकेत किया गया था कि गुरु भक्ति से साधक गुरु कृपा का उत्तम अधिकारी बनकर 'मोक्षमूलं गुरोर्कृपा' के अनुसार मोक्ष का भागी बन जाता है। अत: यहाँ यह समझा देना भी आवश्यक हो गया है कि गुरु कृपा क्या है और किस प्रकार गुरुदेव कृपा किया .करते हैं ?

गुरु कृपा पतित पावनी गंगा की पुनीत जलधारा की तरह अजस्त्र बहती रहती है किन्तु साधक अपनी साधना के बल पर ही उसे अनुभव कर पाता है ।

(1) साधक को शिष्य रूप में अपनाकर मोक्षप्रद मन्त्र प्रदान करना गुरु कृपा का पहला रूप है । गुरु मन्त्र गुरुदेव का ही स्वरूप होता है । गुरुदेव उस मन्त्र के माध्यम से शिष्य के अन्दर शक्ति संचार करके उसका अज्ञान हरते हैं संशय ग्रथियों को सुलझाते हैं और ज्ञान का प्रकाश फैलाकर उसे कल्याण मार्ग में प्रवृत करते हैं । गुरु मन्त्र को एक अमूल्य निधि समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में योगिनी मीराबाई का कहना है कि :-

**वस्तु अमोलक दी मेरे सद्गुरु करि कृपा अपणायो ।**
**पायो री मैं तो राम रतन धन पायो ।।**

मन्त्र के माध्यम से शिष्य का गुरुदेव के साथ सदैव सम्पर्क बना रहता है। जो साधक जितना अधिक गुरु मन्त्र का जप करेगा उसके अन्दर उतना ही अधिक सद्गुरु का प्रकाश प्रकट होता जायेगा ।

(2) गुरूदेव के प्रति मन में भक्ति भावना भी सद्गुरु कृपा से ही जाग्रत होती है । इसे तो गुरुदेव का परम अनुग्रह समझना चाहिए क्योंकि भक्ति से बढ़कर और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं हैं ।

(3) साधक को उसकी अन्तर्निधि की झलक दिखाकर उसे साधना में प्रवृत्त करना तथा संसार से विरक्त करना ।

(4) स्वप्न में अथवा ध्यान में दिव्य उपदेश देना एवं दिव्य लोकों के दर्शन कराना।

(5) शिष्य के मन में प्रेरणा पैदा करके उससे पुण्य कृत्य करवाना, उसके मनोविकारों को दूर करना तथा उसके अन्दर दैवी सम्पदाओं की अभिवृद्धि करना ।

(6) शिष्य की लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना एवं उसे उन सभी आकर्षणों से बचाना जो उसकी साधना में बाधक हों ।

(7) क्लिष्ट संस्कारों का सूक्ष्म रूप से भुगतान कराना, कई जन्मों के कर्म भोगों का वर्तमान जीवन में ही भुगतान करा देना एवं जन्म-जन्मान्तर से संचित कर्माशय रूप वासना बीज को दग्ध करके उसे मोक्ष प्रदान करना ।

(8) लौकिक जगत में शिष्य की मान-मर्यादा की रक्षा करना एवं उसे हर प्रकार के अनिष्टों से बचाना इत्यादि सभी बातें गुरु कृपा कहलाती है । यह सब कुछ गुरू के मानस संकल्प से हो जाता है । व्यावहारिक रूप में उन्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

अतः हमें अपनी योग-साधना में गुरुभक्ति को विशेष स्थान देना चाहिये। क्योंकि:-

**गुरुवक्त्रे स्थिता विद्या गुरु भक्त्या च लभ्यते ।**
**त्रैलोक्ये स्युर्न वक्तारो देवाद्यसुर पन्नगाः ।।**

ज्ञान मूर्ति श्री गुरुदेव के मुखारविन्द में स्थित विद्या गुरुभक्ति से ही प्राप्त होती है । गुरुदेव के सिवाय उस तत्त्वज्ञान का बताने वाला तीनों लोकों में भी अन्य कोई नहीं हो सकता । यहाँ तक कि देवता, असुर एवं शेषनाग भी उसके वक्ता नहीं हो सकते ।

## (ग) श्रद्धा

योग साधना में श्रद्धा का विशेष महत्व है । श्रद्धा-वह पवित्र भावना है जो कि साधक की हर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल देती है । श्रद्धा-वह अमोघ

दैवी शक्ति है, जिसके बल पर साधक महान् से महान् बाधाओं एवं विपत्तियों के पर्वतों को पार करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

महर्षि व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में 'श्रद्धा' शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की है :-

**''श्रद्धा चेतसः सम्प्रसाद सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।''**

अर्थात्- चित्त की प्रसन्नता को ही श्रद्धा कहा जाता है । वह योगी का हर तरह से कल्याण करती है और माता की तरह सदैव उसकी रक्षा करती है ।

साधन चाहे कोई भी हो, उसमें सफलता श्रद्धा पर ही निर्भर करती है । चाहे सत्संग हो, तीर्थयात्रा हो, गंगा स्नान हो या किसी प्रकार का ही धार्मिक-कृत्य क्यों न हो, जब तक उसे पूर्ण श्रद्धा से न किया जाये, उसमें यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में सन्त विनोबा जी के विचारों से उद्धृत एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत है:-

दो मित्र गंगास्नान को जाते हैं । उन में एक श्रद्धालु है और वह इस भावना से स्नान करता है- गंगा एक दिव्य नदी है, यह शिवजी की जटाओं से निकली है, इसकी पुनीत जलधारा में मेरे समस्त पाप धुल जायेंगे और मैं सर्वथा पवित्र हो जाऊँगा।

दूसरा व्यक्ति भी उसी गंगा में इस भावना से स्नान करता है ''यह तो जल है-दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन, इस के अतिरिक्त इसमें धरा ही क्या है ? अतः इसमें सामान्य जल से कोई विशेषता नहीं है ।''

स्नान करने से शरीर की बाहरी शुद्धि तो उसकी भी हो जाती हैं, किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि का लाभ उसे नहीं मिल पाता । जब कि उसका श्रद्धालु मित्र शरीर की बाहरी शुद्धि के साथ साथ अन्तः करण की शुद्धिरूप परम लाभ भी प्राप्त कर लेता है ।

यही सिद्धान्त योग साधना में लागू होता है ।

## (घ) सत्संग एवं संकीर्तन

### सत्संग

**बिनु सत्संग न हरि कथा,**
**तेहि बिनु मोह न भाग ।**
**मोह गये बिनु रामपद,**
**होइ न दृढ़ अनुराग ।।**

(राम च० मा०)

सत्संग का अर्थ है - श्रेष्ठ पुरुषों का संग सत्पुरुषों के चरणों में श्रद्धा पूर्वक बैठना, उनकी अमृतमयी वाणी को भक्ति भाव से सुनना और उनके उपदेशों पर आचरण करना ही सत्संग कहलाता है ।

आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सत्संग का होना बहुत जरूरी है । सत्संग वह पवित्र ज्ञान गंगा है, जिसमें गोता लगाते ही समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है और कर्त्तव्य का बोध हो जाता है । सत्संग की निर्मल जल धारा में मानव की समस्त पाप राशि धुल जाती हैऔर पतित से पतित व्यक्ति भी पुण्यात्मा बन जाता है।

''नारद भक्ति सूत्र'' में सत्संग को अत्यन्त दुर्लभ और कल्याणकारी बताया गया है :-

**''महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'' ।**

रामचरितमानस में कहा गया है कि - जन्मजन्मान्तर के पुण्यों के उदय होने पर ही सन्तों के दर्शन हुआ करते हैं, बिना पुण्य के सन्त नहीं मिला करते ।

**पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता ।**
**सत्संगति संसृति कर अन्ता ।।**

निस्सन्देह अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला यह दुर्लभ

सत्संग साधक का उद्धार कर देता है । अत: सत्संग में विशेष रूचि रखनी चाहिए। यदि दैवयोग से सत्संग सुलभ न हो सके तो सन्तों के पावन चरित्र एवं उपदेश पुस्तकों से पढ़कर अथवा दूसरों से सुनकर ही सत्संग कर लेना चाहिए ।

## संकीर्त्तन

भाव-विभोर होकर परमात्मा के दिव्य गुणों और पवित्र लीलाओं को गाना 'संकीर्तन' कहलाता है । यह चित्त की चंचलता एवं खिन्नता दूर करने तथा अपने आराध्य इष्टदेव से सम्बन्ध जोड़ने का एक सरलतम तथा सर्वोत्तम साधन है ।

कीर्तन हमारे अन्दर भक्ति भावना जाग्रत करता है एवं मन को एकाग्र करता है । इससे मन की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि हमें ब्राह्यजगत का कोई ज्ञान नहीं रहता यहाँ तक कि कुछ क्षणों के लिये हमें अपने शरीर की भी सुधबुध नहीं रहती ।

भक्त सूरदास, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा मीराबाई आदि श्रेष्ठ भक्त कीर्तन के प्रभाव से सदा समाधिस्थ रहा करते थे । वर्तमान में भी हमारे कई साधक भाई-बहिन "प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो।" की संकीर्तन ध्वनि के साथ समाधिस्थ हो जाया करते हैं और कई बार उनकी समाधि घण्टों बाद खुला करती है।

कीर्तन की महिमा स्वयं भगवान् ने अपने मुखारविन्द से वर्णित की है :-

**"मद्भक्ता: यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।"**

हे नारद! जहाँ मेरे भक्तजन मेरा गुणगान करते हैं मैं वहाँ उपस्थित रहा करता हूँ ।

अत: साधना में विशेष प्रगति के लिये कीर्तन में रुचि रखनी चाहिए । यदि संकीर्तन के लिये दूसरे गायक साथी न मिल सकें तो अकेले ही प्रभु की दिव्य लीलाओं से सम्बन्धित कोई दोहा, चौपाई श्लोक या गीत गुनगुनाते रहना चाहिए ।

## (ङ) सरलता, नियमानुवर्तिता एवं आहार शुद्धि

जो व्यक्ति जितना सरल होता है वह भगवान् के उतना ही निकट होता

है और इसके विपरीत कुटिल आदमी उन्हें उतना प्रिय नहीं होता । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं :-

**सरल हृदय जन सो मोहि पावा ।**
**मोहि कपट – छल – छिद्र न भावा ।।**

मन, वाणी और कर्म में एकरूपता का होना ही सरलता है । श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसका स्वभाव सरल हो । जैसे:-

**मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।**
**मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम् ।।**

महात्माओं के मन में जो बात होगी, वही उनकी वाणी में होती है और उसी के अनुरूप ही वे व्यवहार किया करते हैं, किन्तु दुर्जनों में यह बात बिल्कुल विपरीत होती है । अर्थात् वे सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं ।

## नियमानुवर्तिता

योग साधना में प्रगति के लिए नियमानुवर्तिता का होना बहुत जरूरी है । नियमानुवर्तिता को ही गीता में युक्त विहार कहा गया है । जिसका अभिप्राय है कि साधक की दिनचर्या पवित्र हो एवं साधना के अनुकूल हो । उसका सोना, जागना, भोजन, भजन, भ्रमण, यौगिक व्यायाम, ध्यानाभ्यास आदि सभी क्रियायें नियत समय पर, नियत समय के लिए और नियमानुसार हों । नियमानुवर्तिता का पालन करते हुए ही साधना में विशेष सफलता मिल सकती है । अतः साधक का यही प्रयत्न होना चाहिए कि वह अपने अभ्यास का क्रम न टूटने दे ।

## आहार शुद्धि

**युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।**
**युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।**

(गीता - 6/17)

दुःखों को नष्ट करने वाला यह योग उसी व्यक्ति को सिद्ध होता है-

जिसका आहार सात्विक हो, दिनचर्या श्रेष्ठ एवं पवित्र हो, विचार पवित्र हों तथा जो व्यक्ति न अधिक सोता हो और न जागता ही रहता हो ।

अर्थात उपर्युक्त सभी बातों में जो व्यक्ति नियमानुवर्तिता का पालन करता है वही योगसिद्धि का अधिकारी है ।

आहार से ही विचार बनते हैं और विचारों के अनुरूप ही मनुष्य आचरण भी करता है । अत: योग साधना में आहार शुद्धि का बड़ा महत्व है । योगाभ्यासी को ऐसा आहार ग्रहण करना चाहिए, जो स्वभाव से ही सात्त्विक, पवित्रता पूर्वक तैयार किया गया एवं पवित्र कमाई का हो । साथ ही उसे ग्रहण करते समय मन में पवित्र भावनायें एवं ईश्वर समर्पण बुद्धि हो ।

सात्त्विक आहार उसे कहते हैं जो साधक के अन्दर सतोगुण विकसित करने में सहायक हो, जो न अधिक गर्म हो और न अधिक ठण्डा, जिसमें लहसुन, प्याज, खटाई एवं मिर्च न हो, जो बासी न हो, जो सरस एवं मीठा हों, जिसमें घी, दूध, मीठे रसीले फल एवं हरी सब्जियां सम्मिलित हों और भूख से कुछ कम मात्रा में ग्रहण किया जाता हो- सात्त्विक आहार कहलाता है ।

शास्त्रों में कहा गया है- ''आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धि:'' अर्थात् आहार शुद्धि से अन्त:करण की शुद्धि होती है । लोक में यह कहावत आम प्रचलित है - ''जैसा अन्नवैसा मन'' ।

अत: साधक को जहाँ तक संभव हो आहार शुद्धि की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए ।

## (च) राग-द्वेष, अहंकार, शरीर में ममता एवं कामनाओं का त्याग

**राग-द्वेष का त्याग :-** किसी व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति में सुखबुद्धि रखकर उसकी प्राप्ति की इच्छा करना 'राग' है और किसी व्यक्ति, वस्तु तथा परिस्थिति को अपने दु:ख का कारण समझते हुए उसमें प्रतिकूल बुद्धि रखना और उसके निवारण की इच्छा करना 'द्वेष' कहलाता है ।

राग-द्वेष ही सब अनर्थों की जड़ है । इनके कारण ही संसार में सब प्रकार

के पाप होते हैं । इन्हीं दोषों के वशीभूत होकर मनुष्य आत्म हत्या जैसा जघन्य अपराध तक कर डालता है । मानव को 'मैं' और 'मेरे' की संकीर्ण परिधि में बाँध ने वाले मानवता के घोर शत्रु ये राग और द्वेष ही हैं ।

अतः साधक को इन दोषों से सदा बचना चाहिये ।

उसे हर परिस्थिति का स्वागत करना चाहिए और अधिकाधिक भजन करते रहना चाहिए । भजन के प्रभाव से सारी प्रतिकूलतायें स्वतः ही नष्ट होती जायेंगी और सर्वत्र अनुकूलता ही नजर आयेगी ।

## शरीर में ममता का त्याग

पञ्च महा भूतों से बने इस जड़ एवं नाशवान शरीर को 'मैं' समझना ही जीव का अज्ञान है और इस अज्ञान के कारण ही वह शरीर के सुख दुःखादि को अपना सुख-दुःख समझ बैठता है ।

साधक को विवेक पूर्वक यह दृढ़ धारणा बना लेनी चाहिए कि -''मैं शरीर नहीं हूँ'' ।

शरीर को अपने प्रिय प्रभु का मन्दिर समझ कर साफ-सुथरा रखना चाहिए। टूट-फूट हो जाने पर उसकी मुरम्मत करा लेना जरूरी है । अर्थात्-रोगादि हो जाने पर उसका आवश्यक उपचार करा लेना चाहिए, किन्तु उसमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए ।

शरीर की बाहरी शुद्धि (सफाई) सरल है । उसे सभी करना जानते हैं, किन्तु असली सफाई मन, बुद्धि एवं अहंकार रूप अन्तःकरण की है, जो भगवद् भजन रूपी जल से ही हो सकती है ।

शरीर प्रभु भजन का साधन है साध्य नहीं, साध्य तो परम पद की प्राप्ति ही है, जिसके लिए हम शरीर धारण किये हुए हैं । अतः इसमें विशेष ममता नहीं रखनी चाहिए ।

यही बात स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि के बारे में भी समझनी चाहिए । अनासक्ति भाव से अपने सभी कर्त्तव्यों का पालन करते रहिये, किन्तु **नकली 'मैं' और 'मेरे' के रिश्ते में इतना अधिक मत उलझ जाइये कि असली 'मैं' (आत्मस्वरूप) को भुला बैठें ।**

**अहंकार का त्याग** – अहंकार भी योग मार्ग का प्रबल शत्रु है । अतः इसके वशीभूत नहीं होना चाहिए।

अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझना तथा मान-प्रतिष्ठा की आशा रखना, मान मिलने पर प्रसन्न होना तथा न मिलने पर दुःखी होना, शुभ कार्यों का श्रेय अपने पर लेना अर्थात्-परमेश्वर द्वारा करवाये गये शुभ कार्यों का कर्त्ता स्वयं को मान बैठना और गर्व से इठलाना, अपने मन, बुद्धि एवं साधना को उत्कृष्ट समझते हुए दूसरों का अनादर करना तथा स्वयं को पुण्यात्मा समझना आदि सभी बातें अहंकार में गिनी जाती हैं ।

इसके अतिरिक्त गुरुकृपा से प्राप्त योगसिद्धियों का प्रदर्शन करना एवं किसी को वरदान या अभिशाप दे देना भी अहंकार में सम्मिलित है ।

अहंकार साधक को पतन के गर्त पर ढ़केल देता है और उसकी वर्षों की कमाई पर पानी फेरने में देरी नहीं लगाता । अतः इस विषय में सदा सावधान रहना चाहिए ।

**समस्त कामनाओं का त्यागः –**

अपने प्रिय सखा एवं आध्यात्मिक गुरु योगेश्वर श्री कृष्ण से योग जिज्ञासु अर्जुन ने जब यह जिज्ञासा प्रकट की – ''हे कृष्ण ! मनुष्य न चाहते हुए भी किस शक्ति से प्रेरित होकर पापाचरण में प्रवृत्त होता है ? तो श्री कृष्ण उत्तर देते हैं –

**काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।**
**महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।**

(गीता – 3/37)

हे अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही सब बुराइयों की जड़ है । इसी से ही क्रोध उत्पन्न होता है। यह काम भोगों से कभी भी तृप्त न होने वाला और महान् पापी है । अतः इस विषय में इसे ही वैरी समझना चाहिए ।

वस्तुतः साधना के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट काम ही है । वासना, कामना, तृष्णा आदि शब्द भी 'काम' शब्द के ही पर्यायवाची हैं ।

साधक को कभी भी लौकिक विषयों की कामना नहीं करनी चाहिए । अर्थात् मुझे अमुक वस्तु मिल जानी चाहिए, उसके बिना मेरा काम ही नहीं चल सकता, अमुक चीज बहुत अच्छी है उसे मैं अवश्य लूँगा, मुझे अमुक-अमुक लौकिक कार्य करने चाहिए, आदि-आदि इच्छाओं को बल पूर्वक मन से हटाते रहना ही 'कामनाओं का त्याग' कहलाता है । जब तक हमारे मन में कामनायें हैं तब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

कहा भी है:-

**जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।**
**तुलसी कबहुँकि रहिसकहि, रवि रजनी इक ठाम ।।**

श्री मद्भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षणों में कामनाओं के त्याग को ही प्रमुखता दी गई है । जैसे :-

**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्**
**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।**

(गीता-2/55)

हे अर्जुन ! यह मनुष्य जब अपने मन में स्थित समस्त कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और अपनी आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, तभी वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि-यदि साधक कामनाओं का सर्वथा त्याग कर दे तो उसका लौकिक व्यवहार कैसे चलेगा ? कैसे वह अपने बाल-बच्चों का पालन करेगा और उसकी गृहस्थी चलेगी? आदि ।

इसका उत्तर यह है कि-योग किसी को सन्यासी बनने को नहीं कहता और न यही कहता है कि तुम गृहस्थ की ओर से लापरवाह हो जाओ या अपने दायित्वों की उपेक्षा करो, बल्कि वह तो सांसारिक कार्यों को इस कुशलता से करने की प्रेरणा देता है कि साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे । अर्थात् कर्त्तव्य का पालन भी हो जाये और उसमें आसक्ति न होने के कारण वह कर्म हमारे बन्धन का कारण भी न बने ।

कामनाओं के त्याग का यह अभिप्राय है कि - इच्छाओं के बोझ को जबरदस्ती अपने ऊपर मत लादते रहो, बल्कि समयानुकूल सभी आवश्यक कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ भाव से पालन करते रहो ।

ऐसा देखा गया है कि -साधक में जहाँ कामनाओं का अभाव होने लगता है, वहाँ उसके समस्त लौकिक कार्य अनायास ही सम्पन्न होते जाते हैं । उसे उन-2 कार्यों के लिये चिन्ता ही नहीं करनी पड़ती । दयानिधि प्रभु अपने भक्त की हर आवश्यकता का स्वयं ध्यान रखते हैं ।

अतः हमें अपने मन को विषयों के चिन्तन से हटाकर प्रभु चिन्तन में लगाये रखना चाहिए । ऐसा करने से कामनायें स्वतः ही नष्ट होती जायेंगी ।

# (भाग – २)

# वेदान्त एवं सिद्धयोग

(अध्याय ७)

# उपनिषदों की रहस्यमयी योगविद्या

वेदों के तीन भाग हैं - संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक । अधिकांश उपनिषद् वेद के आरण्यक भाग के अन्तर्गत आते हैं । और वेदों की समाप्ति आरण्यकों से होती है । अत: वेदों का अन्तिम भाग होने से उपनिषदों को वेदान्त भी कहा गया है । उपनिषदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये ही महर्षि व्यासदेव जी महाराज ने ''ब्रह्मसूत्र'' की रचना की थी जिसे वेदान्त दर्शन कहा जाता है । उपनिषदें ज्ञान-विज्ञान के आदि स्त्रोत हैं ।

उपनिषद शब्द का अर्थ है-रहस्य । वेदों का सारभूत विषय जो केवल अधिकारी शिष्यों को ही बताये जाने योग्य है, वह उपनिषदों की ब्रह्मविद्या है । जगद्गुरु आदि शंकराचार्य जी महाराज ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है :-

**उपनिषन्नं वा अस्याम् परम् श्रेय इति ।**

अर्थात् परम कल्याणकारी ब्रह्मविद्या को सीखने के लिये शिष्य का गुरु के समीप बैठना । उपनिषदों की विद्या सनातन विद्या है । उपनिषदों में निहित सत्य स्वयं ईश्वर के मुख से निकले हैं और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा ध्यान में सुने गये हैं। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन्त्रद्रष्टा होने के कारण ही उन ध्यानयोग परायण तपस्वी मुनियों को ऋषि कहा गया है ।

उपनिषदों की योगविद्या ही एक ऐसी रहस्यमयी अमरविद्या है जो कि स्वयं तो अमृतस्वरूप है ही अपने अभ्यासियों को भी अमर बनाने की सामर्थ्य रखती है । यह विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसको जान लेने से मनुष्य सब प्रकार की विद्याओं का, कलाओं का एवं भूत-भविष्य का ज्ञाता बन जाता है । ***परमाणु से लेकर महत्तत्व पर्यन्त प्रकृति के सभी रहस्यों को भली प्रकार से जान लेना, देह और देहधारी चेतनतत्त्व जीवात्मा का पृथक्-2 स्वरूप अनुभव कर लेना तथा परमात्मा की सर्वव्यापकता को ध्यानयोग द्वारा देख लेना और अनुभव***

*कर लेना ही योग विज्ञान है। योग के अतिरिक्त जितनी भी विद्यायें हैं वे मनुष्य को उसके द्वारा वांछित एवं प्रकृति से सम्बन्धित बाहरी संसार का ही सीमित ज्ञान कराती हैं किन्तु अपने बारे में कि – मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ और मैंने कहाँ पहुँचना है ? इस रहस्य का ज्ञान योगविद्या ही कराती है ।*

उपनिषदों में यह बात स्पष्ट की गई है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पंचमहाभूतों तथा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की संरचना है । पिण्ड (हमारा शरीर) भी उस बृहद् ब्रह्माण्ड का ही सूक्ष्म रूप है । प्रकृति का अंश होने से यह जड़, विकारी तथा नाशवान् है । जबकि – शरीर को चेतनता देने वाला आत्मा इस प्रकृति के स्वामी, स्वयं प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का अंश होने से निर्विकार एवं अविनाशी है । जीव जब तक प्रकृति के गुणों से प्रभावित होता हुआ देहधर्मों को अपने में आरोपित करके शरीर को ही अपना आत्म-स्वरूप समझता है तब तक ही उसकी जीव संज्ञा है और तब तक ही वह अपने को सुखी, दुःखी एवं अभावग्रस्त अनुभव करता है तथा जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है । किन्तु जब योगविज्ञान को समझकर ध्यानयोग के अभ्यास से समस्त ब्रह्माण्ड के प्रकाशक, संचालक, समस्त विद्याओं एवं ऐश्वर्य के स्वामी तथा प्राणीमात्र की आत्मा परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है तब वह सर्वथा शोकरहित और भयरहित होकर अविनाशी सुख को पा जाता है ।

**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा,**
**एकं रूपं बहुधा यः करोति ।**
**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः**
**तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।**

(कठ-उपनिषद्-2।2।12)

सब प्राणियों की अन्तरात्मा एवं सबको वश में रखने वाला जो सर्वसमर्थ परमात्मा अपने एक रूप को ही अपनी लीला से अनेक प्रकार का बना लेता है, उस सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा को जो ज्ञानी पुरुष अपने अन्दर स्थित देखते हैं, उन्हीं को सदा स्थिर रहने वाला अविनाशी सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं।

इस प्रकार जो योगी उन ब्रह्माण्ड के प्रकाशक, विज्ञानमय परमात्मा को निरन्तर अपने अन्दर स्थित अनुभव करते हैं, वे सकल विद्याओं के ज्ञाता एवं योगैश्वर्य के स्वामी बन जाते हैं । समस्त ब्रह्माण्डों के रहस्य उनके सामने खुल जाते हैं । उनके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं रहता । हजारों मील दूर के दृश्यों को देख लेना, हजारों-लाखों मील दूर की बातों को सुन लेना, आकाश में उड़ने की सामर्थ्य, एक समय में अनेकों शरीर धारण कर लेना, इच्छानुसार अपना रूप बदल लेना, पृथ्वी के गर्भ में एवं समुद्र की असीम गहराई में स्थित पदार्थों का ज्ञान हो जाता तथा भूत-भविष्य का ज्ञान हो जाना ये सभी शक्तियाँ योगी को योगसिद्धि के फलस्वरूप न चाहते हुए भी प्राप्त हो जाया करती हैं ।

यही वह योगविज्ञान है, जिसे उपनिषदों में ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, योगविद्या आदि नामों से वर्णित किया गया है । उपनिषदों में स्थान-2 पर कहा गया हे कि - योग ही एकमात्र ऐसी विद्या है **जिसका क्रियात्मक ज्ञान हो जाने से मनुष्य के लिये कुछ भी अज्ञात नहीं रहता, वह सब कुछ जान जाता है।**

बृहद् आरण्यक उपनिषद् में ''याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद'' के अन्तर्गत यह बात स्पष्ट रूप से समझाई गई है । महर्षि याज्ञवल्क्य जी की दो पत्नियाँ थीं - मैत्रैयी और कात्यायनी । उन्होंने सन्यास लेने की इच्छा से अपनी सम्पत्ति उन दोनों में बाँटनी चाही । इस पर मैत्रेयी बोली -

''महाराज! यदि संसार की सारी सम्पत्ति मुझे मिल जाये तो क्या उससे मैं अमर हो जाऊँगी ?'' इस पर याज्ञवल्क्य जी महाराज कहते है:-

**नेति होवाच याज्ञवल्क्यः यथोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतस्य तु नाशाक्ति वित्तेनेति ।**

याज्ञवल्क्य बोले-नहीं देवी ! ऐसी बात नहीं है । अधिक धन प्राप्त हो जाने से तुम्हारा जीवन भी धनी लोगों के समान सुखी और सुविधाजनक हो जायेगा, किन्तु धन से अमर हो जाने की आशा नहीं की जा सकती।

**सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ।**

मैत्रेयी कहती है - जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूंगी? इसलिये महाराज! आप मुझे उस पवित्र ज्ञान का उपदेश दीजिये जिससे मैं जन्म-मरण के चक्र से छूटकर शाश्वत सुख प्राप्त कर सकूं।

मैत्रेयी के इन विवेकपूर्ण वचनों को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य बड़े प्रसन्न हुए और उसे ब्रह्मविद्या की उत्तम अधिकारिणी समझकर कृपापूर्वक आत्मतत्त्व का रहस्य बताते हैं :-

**न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियों भवति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वितं प्रियं भवति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।**

अर्थात्-पत्नी के सुख के लिये पुरुष को पत्नी प्रिय नहीं होती, बल्कि अपने आत्मा को सुख पहुँचाने की भावना से उसे पत्नी प्रिय होती है । इसी प्रकार पति के सुख के लिये स्त्री को पति प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा के सुख के लिये ही उसे पति प्रिय होता है । पुत्र के सुख के लिये माता-पिता को पुत्र प्रिय नहीं होता, आत्मा के सुख के लिये ही मनुष्य को पुत्र प्रिय होता है । धन के सुख के लिये मनुष्य को धन प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से ही मनुष्य को धन प्रिय होता है ।

भाव यह है कि - मनुष्य जिन प्राणियों और पदार्थों में आत्मबुद्धि रखता है, वे ही प्राणी और पदार्थ उसे प्रिय लगते हैं । इस प्रकार मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु उसकी आत्मा ही है । आत्मा को सुख पहुँचाने की कामना से ही मनुष्य को पति, पत्नी, पुत्र, मित्र, माता, पिता, धन-सम्पत्ति तथा संसार के सभी सुखद पदार्थ प्रिय लगते हैं ।

इसलिये -

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च । मैत्रेयी ! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति ।**

याज्ञवल्क्य जी महाराज अपने पवित्र योगोपदेश में आगे कहते हैं :-

अरी मैत्रेयी ! बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि - वह प्राणी मात्र का परम् प्रियतम, परम मित्र, सत्-चित्-आनन्दमय आत्मस्वरूप को जानने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे । इस आत्मतत्त्व को तत्त्वदर्शी महापुरुषों एवं शास्त्र वचनों से सुनना चाहिये, एकान्त में इस विषय पर मनन करना चाहिये और फिर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास से निश्चयपूर्वक उसका सतत चिन्तन करते रहना चाहिये तथा ध्यानयोग के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिये । इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेने तथा उसके विज्ञानमय रहस्य को तत्वतः जान लेने से मनुष्य सर्वज्ञ बन जाता है । उसके लिये कुछ भी देखना, सुनना और जानना शेष नहीं रहता ।

क्योंकि ईश्वर का अंश होने से आत्मा एक व्यापक सत्ता है । ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है । आत्मा को जान लेने से जीवात्मा का जीवभाव छूट जाता है और अपने अंशी परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ जाने से वह भी वैसा ही सर्वज्ञ बन जाता है ।

आत्मज्ञान ही कैवल्य मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन है, श्वेताश्वतर-उपनिषद् में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है । जैसे :-

**यथैव विम्बं मृदयोपलिपप्तं,**
**तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।**
**तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही,**
**एकः कृतार्थो भवते, वीतशोकः ।।**

(श्वेता०उपनिषद् 2।14)

जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टी से ढ़का रहने के कारण छिपा रहता है, उसके वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं होता । परन्तु जब वही धोकर साफ कर लिया जाता है, तब वह चमकने लगता है । इसी प्रकार जीवात्मा का असली स्वरूप अत्यन्त निर्मल होने पर भी जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कारों से मलिन होने के कारण वह छिपा रहता है । जब योग साधना द्वारा उपरोक्त सभी मल धुल जाने से योगी का अन्तःकरण बिल्कुल निर्मल हो जाता है तब उसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष

दर्शन हो जाने से वह सब प्रकार के दुःखों से सब प्रकार से मुक्त होकर सर्वथा कृतार्थ हो जाता है ।

इस प्रकार वेदान्त प्रतिपादित योगविद्या ही ज्ञान-विज्ञान की जननी है ।

ज्ञान संकलिनी तन्त्र में योग विद्या को सभी वेदों, पुराणों एवं दर्शन शास्त्रों का सार बताया गया है । जैसे:-

**मथित्वा चतुरो वेदान सर्व शास्त्राणि चैव हि ।**
**सारं तु योगिभिर्पीतं तक्रं पिवन्ति पण्डिताः ।।**

चारों वेदों, अठारह पुराणों, छः दर्शनशास्त्रों एवं स्मृति (धर्मशास्त्रों) को मथ कर उसका सारभाग (मक्खन) तो योगी लोग ग्रहण कर लेते हैं किन्तु शास्त्रों के शब्दिक ज्ञाता ज्ञानाभिमानी विद्वान लोग वेदों और शास्त्रों के निस्सार भाग छांछ को पीकर ही अपने को धन्य समझते हैं । अर्थात् अपने ज्ञानाभिमान की पुष्टि के लिये कठोर परिश्रम से सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी वेदों और शास्त्रों के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ बने रहने के कारण उन शास्त्र ज्ञानी विद्वानों के हाथ कुछ भी नहीं लगता । वे निस्सार भाग को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ।

शास्त्राध्ययन वही सार्थक है जिसमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनों नियमों का पालन हो । अर्थात् साधक पहले तो श्रद्धापूर्वक तत्वज्ञानी सन्तों से जिज्ञासु भाव से शास्त्रों का श्रवण करे या गीता, उपनिषद् एवं दर्शन शास्त्रों का स्वाध्याय के रूप में अध्ययन करे, फिर एकान्त में बैठकर सुने हुए और पढ़े हुए विषय पर गहन चिन्तन-मनन करे और फिर उसे क्रियात्मक रूप देते हुए आचरण में लाने का अभ्यास करे । इस प्रकार करते रहने से अन्त में सिद्धमहापुरूषों (सन्तों) की कृपा से उसे वास्तविक ज्ञान (आत्मज्ञान) की प्राप्ति हो जायेगी और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान योगी बनकर परम् कल्याण का भागी बन जायेगा । यही उपरोक्त श्लोक का भावार्थ है और यही उपनिषदों का सार है ।

(अध्याय ८)

# आत्म तत्व एवं यम-नचिकेता संवाद

कठोपनिषद् में योगजिज्ञासु नचिकेता और आचार्य यम के संवाद के रूप में परमेश्वर के रहस्यमय तत्त्व का विशद वर्णन किया गया है ।

बालक नचिकेता गौतम वंशीय उद्दालक ऋषि का पुत्र था। उसके पिता ने विश्वजित नामक महान् यज्ञ किया और उस यज्ञ में उन्होंने अपना सारा धन ऋत्विजों को दान में दे दिया किन्तु ब्राह्मणों को जो गौएं दान में दी गई, उनमें कुछ बूढ़ी थीं और कुछ दूध देने योग्य नहीं थी । यह देखकर बालक नचिकेता को बड़ा दु:ख एवं आश्चर्य हुआ । उसने मन ही मन विचार किया -

''पिता जी को इस यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर देना चाहिये था, किन्तु उन्होंने मेरा दान नहीं किया, प्रत्युत उपयोगी गोओं को भी मेरे निमित्त रख लिया है । उन्होंने जो गौएँ दान की हैं, वे किसी काम की नहीं हैं'' । उसने पिता को सावधान करते हुए निवेदन किया - ''पिता जी आप मुझे किसे देगें?''

पिता ने कोई उत्तर नहीं दिया । बालक ने दुबारा पूछा । तब भी उसे उत्तर नहीं मिला । तीसरी बार उसने फिर वही प्रश्न किया तो उसके पिता को क्रोध आ गया । वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले -

''तुझे मृत्यु को दूंगा'' ।

तब पिता की आज्ञा से बालक नचिकेता यमपुरी चला गया।

वहां यमराज कहीं बाहर गये हुए थे । अत: बालक अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही तीन दिन तक यमराज के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा । जब यमराज आये और उन्हें पता चला कि यह बालक तीन दिन से अनशन किये हुए मेरी प्रतीक्षा में द्वार पर पड़ा है तो उन्होंने उसका बड़ा स्वागत किया । उन्होंने बालक की कर्त्तव्यनिष्ठा, सत्य-परायणता तथा निर्भीकता आदि गुणों को देखकर उससे तीन वर मांगने को कहा । इस पर नचिकेता ने यमराज से प्रार्थना की -

हे मृत्युदेव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं तीनों वरों में से पहला वर यह मांगता हूँ कि मेरे पिता उद्दालक - जिन्होंने क्रोध के आवेश में मुझे आपके पास भेज दिया था और अब अत्यन्त दु:खी एवं अशान्त हो रहे हैं वे आपके वरदान से मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्त तथा सन्तुष्ट हो जायें और जब आपकी आज्ञा से मैं घर जाऊँ, तब वे मुझे अपने पुत्र के रूप में पहचान कर मुझसे पूर्ववत् व्यवहार करें ।

यमराज से इस वर की स्वीकृति पाकर नचिकेता ने दूसरे वर में स्वर्गलोक दिलाने वाली अग्निविद्या का उसे उपदेश करने की प्रार्थना की । यमराज ने यह वर भी उसे दे दिया ।

इस लोक के कल्याण के लिये पिता की सन्तुष्टि का वर तथा परलोक के कल्याण के लिये स्वर्गप्राप्ति का साधन अग्निविज्ञान का वर पाकर अब तीसरे वर में नचिकेता ने ब्रह्मवेत्ता आचार्य यम से आत्मा का यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बताने की प्रार्थना की । किन्तु यमराज ने उसकी इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए कहा -

हे नचिकेता ! यह आत्मतत्त्व बहुत की सूक्ष्म विषय है । यह सहज में समझ आने वाला नहीं है । इसे तो देवता लोग

भी नहीं समझ सके हैं । तुम बालक इसे क्या समझ पाओगे । अतः तुम इसे छोड़कर इसके बदले कोई दूसरा वर माँग लो ।

नचिकेता अपनी बात पर दृढ़ रहा । तब उसकी परीक्षा के लिये यम ने पहले उसे पृथ्वी लोक के समस्त भोगों का प्रलोभन दिया, फिर स्वर्गीय भोगों का वर्णन करते हुए उनका वरण करने को कहा । किन्तु नचिकेता ने उन समस्त भोगों को ठुकराते हुए कहा-

**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,**
**लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वां।**
**जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्,**
**वरस्तु में वरणीय स एव ।।**

(१/१/२७)

हे मृत्युदेवता ! आप जानते ही हैं कि धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आपके दर्शन पा लेने के फलस्वरूप अब मुझे जीवन यापन के लिये आवश्यक धन स्वतः प्राप्त हो जायेगा। जब तक आपका शासन रहेगा, तब तक हम जोते भी अवश्य रहेंगे । इसलिये मेरे माँगने योग्य वर तो वह आत्मतत्व ही है ।

इस प्रकार भली-भांति परीक्षा करके यमराज को जब यह विश्वास हो गया कि नचिकेता परम वैराग्यवान् एवं दृढ़निश्चयी है तो उसे ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी जानकर उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया । आत्मतत्त्व की दुर्लभता एवं गहनता का वर्णन करते हुए आचार्य यम अपना उपदेश आरम्भ करते हैं :-

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,**
**शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।**
**आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-**
**ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलाऽनुशिष्टः।।**

(१/२/७)

जो आत्मतत्त्व बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता और जिसको बहुत से लोग सुनकर भी समझ नहीं पाते, ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाला महापुरूष आश्चर्यमय है । उसे प्राप्त करने वालों में भी कोई विरला ही बुद्धिमान् साधक ऐसा होता है जिसने आत्मतत्त्व को पाकर अपना जीवन सफल बना लिया हो। तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरूषों से उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन, निदिध्यासन करते-करते तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरूष तो जगत में अत्यन्त दुर्लभ हैं । अर्थात् आत्मतत्त्व के सुनने वाले, सुनकर उस पर आचरण करने वाले, उसका यथार्थ वर्णन करने वाले और उसे तत्व से जानने वाले महापुरूष इस संसार में विरले ही हैं ।

**एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्यमर्त्यः ।**
**प्रवृह्यधर्म्यमणुमेतमाप्य ।**
**स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा,**
**विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।।**
(१/२/१३)

मनुष्य को चाहिये कि वह इस धर्ममय उपदेश को पहले तो अनुभवी महापुरूष से श्रद्धापूर्वक सुने और सुनकर उसका मनन करे और फिर एकान्त में उस पर विवेकपूर्वक विचार करते हुए उसे अपने चिन्तन का विषय बनाये । निरन्तर अभ्यास करते हुए जब साधक आत्मतत्त्व को अनुभव कर लेता है तब वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को पाकर आनन्द में ही मग्न हो जाता हैं । नचिकेता की प्रशंसा करते हुए वे आगे कह रहे हैं - हे नचिकेता! तुम जैसे परम विरक्त एवं निष्ठावान् साधक के लिये तो मैं परमधाम का दरवाजा खुला हुआ समझता हूं ।

आचार्य यमराज से आत्मतत्त्व की दुर्लभता सुनकर तथा अपने को उसका अधिकारी जानकर नचिकेता के मन में परमात्म तत्त्व की जिज्ञासा तीव्र हो गई और उसने यमराज से पुनः निवेदन किया -

हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो धर्म-अधर्म के सम्बन्ध से रहित, कार्यकारण रूप प्रकृति से पृथक् एवं भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् इन सबसे भिन्न जिस परमात्म तत्त्व को आप जानते हैं, वह मुझे बताने की कृपा करें ।

तब बालक नचिकेता की तीव्र जिज्ञासा एवं समर्पण भाव को देखते हुए यमराज परमात्म तत्त्व का वर्णन करते हैं :-

**अणोरणीयान्महतो महीयाना-**
**त्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।**
**तमःतुः पश्यति वीतशोको,**
**धातुःप्रसादान्महिमानममात्सनः ।।**
**(१/२/२०)**

हे नचिकेता ! वे परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् है । वे सर्वव्यापी होते हुए भी इस जीवात्मा के हृदयरूपी गुफा में निवास किया करते हैं । परमात्मा की उस महिमा को कामनारहित और चिन्तारहित कोई विरला ही साधक उस परमेश्वर की कृपा से ही देख पाता है ।

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,**
**न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**
**यमैवेष वृणुते तेन लभ्य-**
**स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।**
**(१/२/२३)**

ये परमात्मा न तो उन लोगों को मिलते हैं, जो शास्त्रों को पढ़-सुनकर अपने को ज्ञानी समझते हुए दूसरों को प्रभावित करने के उद्देश्य से उस परमात्म तत्त्व का नाना प्रकार से वर्णन करते हैं । न उन तर्कशील बुद्धिमानों को मिलते हैं, जो परमात्मा के विषय में बहुत कुछ सुनते रहते हैं । वे तो केवल उसी के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं जो अपनी बुद्धि या साधना पर निर्भर न रहकर उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है । ऐसे साधक पर वे भक्तवत्सल कृपा किया करते हैं और अपनी योगमाया का परदा हटाकर अपना यथार्थस्वरूप उसके सामने प्रकट कर देते हैं।

उपरोक्त मन्त्रों में परमेश्वर की महिमा का वर्णन किया गया तथा यह बतलाया गया कि वे परमात्मा किसे प्राप्त होते हैं। अब यह बतलाया जा रहा है कि वे किन साधनों से प्राप्त किये जा सकते हैं ।

यहां रथ और रथी का दृष्टान्त देकर योगवेत्ता यमराज मनोनिग्रह पर बल देते हुए कह रहे हैं :-

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।**
**बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।**

(१/३/३)

**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।**
**आत्मेंन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।**

(१/३/४)

हे नचिकेता ! जीवात्मा को तो तुम रथ का सवार समझो, शरीर को रथ समझो, बुद्धि को रथ का हाँकने वाला सारथी समझो और मन को लगाम समझो ।

ज्ञानी पुरूष कहते है कि हमारी इन्द्रियाँ उस रथ को खींचने वाले घोड़े हैं और सांसारिक विषय उन घोड़ों के विचरने का मार्ग है तथा शरीर, इन्द्रिय और मन इन सबके साथ रहने वाला जीवात्मा ही उन विषयों का भोक्ता है ।

**इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः ।**
**मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।।**

(१/३/१०)

**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरूषः परः ।**
**पुरूषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।**

(१/३/११)

इन्द्रियों से शब्दादि विषय बलवान् हैं । वे साधक की इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं । अतः साधक को चाहिये कि वह इन्द्रियों को विषयों से दूर रखे । विषयों से बलवान् मन है । यदि मन विषयों के चिन्तन से हट जाय तो इन्द्रियाँ और विषय साधक की कुछ भी हानि नहीं कर सकते । मन से भी बुद्धि बलवान् है । अतः बुद्धि की सहायता से अर्थात् बुद्धि द्वारा विचार करके मन को राग-द्वेष से रहित बनाकर उसे अपने वश में कर लेना चाहिये ।

बुद्धि से भी बलवान इन सबका स्वामी आत्मा बलवान् है। इन्द्रियों मन और बुद्धि इन सब पर आत्मा का अधिकार है, किन्तु इस आत्मा से भी बलवान् एक और तत्त्व है - ईश्वर की अव्यक्त माया शक्ति । उसे ही प्रकृति कहा गया है । यह प्रकृति ही जीव और ईश्वर के बीच में परदा है । उसे हटाना जीव के वश की बात नहीं है । अतः इससे भी बलवान जो समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, सबके आधार परम पुरूष परमेश्वर हैं, उन्हीं की शरण लेनी चाहिये । उन्हीं की कृपा से माया का आवरण हट जाने पर जीव

अपने अंशी परमात्मा को पाकर कृतार्थ हो जाता है ।

ईश्वर के शरणागत होकर उसकी प्राप्ति के लिये किस प्रकार साधाना करनी चाहिये, इस जिज्ञासा पर प्रस्तुत मन्त्र में ध ारणा-ध्यान की विधि बतलायी जा रही है-

**यच्छेद्वाड्.मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि ।**
**ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्तमात्मनि ।।**

(१/३/१३)

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि वह पहले तो अपनी वाणी आदि समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर दे । अर्थात् मन में विषयों की स्फुरणा न रहे । जब यह क्रिया भली-भांति होने लगे तो मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में विलीन कर दे । अर्थात् ऐसी स्थिति हो जाय जहाँ एकमात्र परमात्मा के सिवा अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता ही अनुभव में न आये । इसके पश्चात् अपने आपको भी शान्तस्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे ।

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गातिम ।।**
**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो कि प्रभवाप्ययौ ।।**

(२/३/११)

उपरोक्त प्रकार से योगधारणा के द्वारा जब मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भली-भांति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती उस स्थिति को योगीजन योग की सर्वोत्तम स्थिति बतलाते हैं । इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का नाम ही योग अर्थात् समाधि है - ऐसा अनुभवी योगाचार्यों का मत

है । उस समय साधक को इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का कोई ज्ञान नहीं रहता और वह विषय दर्शन रूप प्रमाद से रहित हो जाता है । किन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है । अतः कल्याणकामी व्यक्ति को निरन्तर योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये ।

शरीर छूट जाने के बाद जीवात्मा की क्या गति होती है? नचिकेता के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य यम कहते हैं -

**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।**
**स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ।।**

(२/२/७)

यमराज कहते हैं कि शरीर त्यागने के बाद जीवात्मा अपने कर्मों और वासनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की गति को प्राप्त करता है । जिसके जैसे कर्म होते हैं और शास्त्रादि को पढ़सुनकर तथा अच्छी बुरी संगति से जिसके जैसे भाव अन्तकाल में बने होते हैं, उसी के अनुसार मरने के बाद कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करने के लिये नाना प्रकार की जंगम योनियों को प्राप्त हो जाते हैं और उनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं वे मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं । जिनके पापकर्म अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षी का शरीर धारण करते हैं और जिनके घोर पापकर्म होते हैं वे वृक्ष, लता आदि जड़ शरीर में उत्पन्न होते हैं ।

जीवात्मा की अन्तिम गति बतलाकर यमराज अब परमात्मा का स्वरूप और भी अधिक स्पष्टीकरण के साथ समझाते हैं -

**य एव सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरूषो निर्मिमाणः।**
**तदेव शुः तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।**
**तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।**
**एतद्वै तद् ।।** (३/२/८)

जीवात्माओं के कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला जो यह परम पुरूष परमेश्वर प्रलयकाल में सब जीवों के सो जाने पर भी अपनी महिमा में नित्य जागता रहता है, वही परम विशुद्ध तत्त्व है, वही परब्रह्म है, उसी को अमृतस्वरूप परमात्मा कहा जाता है । ये समस्त लोक उसी में आश्रय पाय हुए हैं । उसके नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता । हे नचिकेता ! यही है वह परमात्मा जिसके विषय में तुमने पूछा था ।

**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न**
**लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,**
**न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।**

(२/२/११)

जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रकाशक सूर्यदेवता है । हमारे नेत्रों में जो ज्योति है वह उसी का प्रकाश है, बाहर जो प्रकाश है वह भी उसी का है । उस प्रकाश की सहायता से ही लोग नाना प्रकार के कर्म करते हैं, परन्तु सूर्य उन नेत्रों द्वारा किये जाने वाले बाह्य कर्मरूप दोषों से लिप्त नहीं होता । इसी प्रकार सभी प्राणियों के अन्तर्यामी एक परब्रह्म परमात्मा है । उन्हीं की शक्ति से मनुष्य इन्द्रियों द्वारा शुभाशुभ कर्म करते हैं और उनका सुख-दुःख रूप फल भोगते हैं किन्तु वे परमेश्वर उनके दुःखों से लिप्त नहीं होते । वे सब में रहते हुए भी सबसे पृथक् हैं ।

**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो**
**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,**
**रूपं रूपं प्रतिरूपों बहिश्च ।।**

(२/२/६)

जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निराकार रूप से व्याप्त एक ही अग्नि प्रज्वलित होने पर नाना रूपों में उनके समान आकार वाला बन जाता है । वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परमेश्वर एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के समान रूप वाला हो रहा है और बाहर भी वही है । उन परमेश्वर की महत्ता इतनी ही नहीं इससे कहीं अधिक है ।

यमराज के मुख से परमेश्वर की विलक्षण महिमा को सुनकर नचिकेता मन ही मन विचार करने लगा कि उस परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को मै किस प्रकार से जानूं? क्या वे परमात्मा प्रकाशित होते हैं या अनुभव में आते हैं ?

बालक के मनोभावों को जानकर यमराज पुनः कहते हैं -

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमाः विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व,
तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति ।।

(२/२/१५)

हे नचिकेता ! उस प्रकाशपुञ्ज परमात्मा के समीप न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं । फिर यह लौकिक अग्नि तो प्रकाशित ही कैसे हो सकती है । क्योंकि उस परमात्मा के प्रकाश से ही सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि सभी प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार उस अनन्त प्रकाश पुंज के सामने सूर्य का प्रकाश अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता । इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उस परमेश्वर के प्रकाश के एक अंश से प्रकाशित हो रहा है ।

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयदिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।।
(१/३/३)

इसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्युदेवता ये सब दौड़-दौड़ कर अत्यन्त सावधानी से अपने काम में लगे हुए हैं ।

इस प्रकार परमात्मतत्व के रहस्यमय उपदेश को सुनकर नचिकेता यमराज द्वारा बतलाई हुई ब्रह्मविद्या को और सम्पूर्ण योगविधि को जानकर जन्म-मृत्यु के बन्धन से रहित और सब विकारों से शून्य होकर परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हो गया । दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म विद्या को इसी प्रकार जान लेता है, वह भी नचिकेता की भाँति जन्म-मृत्यु से रहित और सब विकारों से रहित होकर परमात्मा को पा जाता है ।

(अध्याय ९)

# ध्यानयोग की महत्ता

हमारे योगाचार्यो ने ध्यानयोग को ईश्वरप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन एवं मानव-जीवन का परम पुरूषार्थ माना है । गीता एवं उपनिषदों में ध्यानयोग की महिमा मुक्त कंठ से गायी गई है । ध्यानबिन्दूपनिषद् में ध्यानयोग की महत्ता बताते हुए यहाँ तक कह दिया है कि :-

**यदि शैलसमं पापं विस्तीर्ण बहु योजनम् ।**
**भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेत्ता कदाचन ।।**

अर्थात् सैकड़ों योजन तक फैला हुआ पापों का पहाड़ ही क्यों न हो वह भी ध्यानयोग के द्वारा टूट जाता है । पापों को क्षीण करने वाला और काई साधन नहीं है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि जीवात्मा परमेश्वर का सनातन अंश है और वह उस परमेश्वर द्वारा ही शुभाशुभ कर्मो के अनुसार इस संसार चक्र में घुमाया जाता है । जब तक वह अपने संचालक एवं जगत के आधार परमेश्वर को भली-भांति जान नहीं लेता और उसका कृपापात्र नहीं बन जाता, तब तक वह संसार चक्र से छूट नहीं सकता । किन्तु जब वह अपने अविनाशी स्वरूप को और सबके प्रेरक परमात्मा को भली-भांति, पृथक्-पृथक् समझ लेता है और यह जान लेता है कि मै उसी परमात्मा द्वारा घुमाया जा रहा हूँ और उन्हीं की कृपा से छूट सकता हूँ, तब वह परमेश्वर का प्रिय बनकर उनके द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और जन्म-मरणरूप संसारचक्र से छूटकर सत्-चित् और आनन्द-स्वरूप परमेश्वर में मिल जाता है ।

अतः मुनष्य को ध्यानयोग परायण होकर सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का दिव्यस्वरूप जानने की चेष्टा करनी चाहिये । श्वेताश्वतरोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्रों में यह बात स्पष्टरूप से समझायी गई है ।

**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजाह्येका-**
**भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता**
**अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता,**
**त्र्यं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।।**
**(श्वेता ० १/६)**

सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर तथा अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला जीवात्मा ये दोनों ही अजन्मा है । इन दोनों के अलावा जीवात्मा के लिये भोग्यसामग्री जुटाने वाली एक तीसी शक्ति है, जिसे अनादि प्रकृति कहा गया है । यद्यपि ये तीनों ही अनादि और अजन्मा हैं फिर भी ईश्वरतत्त्व जीवात्मा और प्रकृति इन दो तत्वों से विलक्षण है, क्योंकि वे परमात्मा अनन्त हैं, सम्पूर्ण विश्व उन्हीं का विराट् शरीर है तथा वे सब कुछ करते हुए भी कर्त्तापन के अभिमान से रहित हैं । इस प्रकार जब साधक ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को ब्रह्मरूप में जान लेता है, तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

**ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः,**
**क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः।**
**तस्याभिध्यानातृतीयं देहभेदे,**
**विश्वैश्वर्य केवलं ह्याप्तकामः ।।**
**(श्वेता. १/११)**

उन परमदेव परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से जब

साधन उन्हें जान लेता है, तब उसके समस्त बन्धन नष्ट हो जाते हैं । क्योंकि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच प्रकार के क्लेशों का नाश हो जाने से वह जन्म-मरण से छूट जाता है । मरणोपरान्त वह स्वर्गलोक तक के समस्त भोगों को त्यागकर विशुद्ध कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है और उसकी कोई भी कामना शेष नहीं रह जाती। इसलिये -

**एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं,**
**नातः परं वेदितव्यं हि किन्चित् ।**
**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं हि मत्वा,**
**सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।**
**(श्वेता० १/१२)**

अपने ही भीतर हृदयदेश में अन्तर्यामी रूप से स्थित इस परमेश्वर को ही हमेशा जानना चाहिये । इससे बढ़कर जानने योग्य दूसरी चीज और कुछ भी नहीं है । जीवात्मा, प्रकृति और उनके प्रेरक परमात्मा इन तीनों को जानकर मनुष्य सब कुछ जान जाता है । फिर उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता । इस प्रकार जड़ प्रकृति, चेतन आत्मा और इन दोनों के स्वामी परमात्मा ये तीनों परब्रह्म परमेश्वर के ही रूप हैं ।

## ध्यानाभ्यास की विधि

पूर्वोक्त मन्त्रों में ध्यानयोग की महत्ता बताकर अब दूसरे अध्याय के निम्नलिखित मन्त्रों में यह बतलाया जा रहा है कि साधक को किस प्रकार ध्यानाभ्यास करना चाहिये ।

**त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं,**
**ह्यदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।**

**ब्रह्मोड्डयेन प्रतरेत विद्वान्**
**स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।**
**(श्वेता० २/८)**

बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि वह अपना सिर, गला और छाती को ऊँचा उठाये रखे तथा शरीर को सीधा और स्थिर रखे। इसके बाद समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उनका मन के द्वारा हृदय में निरोध करे । अर्थात् प्रत्याहार द्वारा अपने आँख, कान आदि इन्द्रियों के बाह्य व्यापार को रोककर उन्हें मन में स्थापित करे और मन को ईश्वर में लगाये रखे । फिर 'ॐ' रूप नौका द्वारा अर्थात् ओंकार का जप और उसके वाच्य परमेश्वर का ध्यान करके समस्त भयावह प्रवाहों को पार कर जाय ।

**प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः,**
**क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ।**
**दुष्टाश्वयुक्तमिह वाहमेनं,**
**विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ।।**
**(श्वेता० २/६)**

बुद्धिमान साधक को चाहिये कि वह युक्त आहार, युक्त विहार और युक्तचेष्ठ होकर अर्थात् अपना आहार, विहार और चेष्टाओं को साधना के अनुकूल बनाकर विधिपूर्वक प्राणायाम करे। जब प्राणायाम करते-करते प्राण अत्यन्त सूक्षम हो जाय तो उसे नासिका द्वारा बाहर निकाल दे । इसके बाद जिस प्रकार दुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ को कुशल सारथी अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाता है उसी प्रकार साधक को चाहिये कि वह अपने चंचल मन को सावधानी से वश में रखकर आत्मा में स्थिर करे ।

**समे शुचौ शर्करा बि बालुका,**
**विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।**

मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।
(श्वेता० २/१०)

ध्यानाभ्यास का अभ्यास करने वाले साधक को ऐसी जगह आसन जमाना चाहिये जहाँ की भूमि समतल हो तथा सब प्रकार से शुद्ध हो । जहाँ कंकड़ तथा बालू आदि न हों तथा अग्नि और धूप की गर्मी न हो । जहाँ किसी प्रकार का शोरगुल न हो । आवश्यक जल प्राप्त हो सकता हो एवं शरीर रक्षा के लिये उपयुक्त आश्रय हो । ऐसे गुफा आदि वायु रहित स्थान में बैठकर मन को परमात्मा के ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिये ।

## योगसिद्धि के लक्षण

ध्यानाभ्यास कैसे स्थान पर और किस प्रकार करना चाहिये। यह बात समझाकर अब श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय के ही अगले तीन मन्त्रों में ध्यानयोग की प्राथमिक सिद्धि के सूचक निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं :-

नीहारधूमार्कानिलानलानां,
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि -
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ।।
(२/११)

परमात्मा की प्राप्ति के लिये की जाने वाली ध्यानयोग की साधना में साधक के सामने ये दृश्य प्रकट होते हैं :-

कभी उसे अपने सामने कुहरे के समान रूप दीखता है, कभी धुआँ सा दिखाई देता है, कभी सूर्य का प्रकाश, कभी वायु

के समान निराकार रूप, कभी अग्नि के समान तेज प्रकाश, कभी जुगनू की सी टिमटिमाहट, कभी बिजली की सी चकाचौंध, कभी स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल रूप और कभी चन्द्रमा की शीतल चाँदनी चारों और फैली हुई दिखाई देती है । इस प्रकार के और भी बहुत से दृश्य ध्यानयोगी के सम्मुख प्रकट होते हैं । ये सब योगसिद्धि को सूचित करने वाले चिह्न हैं ।

**पृथ्व्यप्तजोऽनिलखे समुत्थिते,**
**पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।**
**न तस्य रोगों न जरा न मृत्युः,**
**प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।**
(२/१२)

ध्यानाभ्यास करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों पर साधक का अधिकार हो जाता है और उनसे सम्बन्ध रखने वाली पाँच प्रकार की सिद्धियाँ उसके सामने प्रकट हो जाती हैं, तब उस साधक का शरीर योगाग्निमय बन जाता है । जिससे उसे न किसी प्रकार का रोग होता है, न उसे बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है ।

ध्यानयोग के द्वारा पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक के अन्दर और भी कई प्रकार की सिद्धियाँ आ जाती हैं । जैसे :-

**लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,**
**वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।**
**गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं,**
**योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ।।**
(श्वेता० उप० २/१३)

उसका शरीर हल्का उवं निरोग हो जाता है । उसे भौतिक पदार्थों की कामना नहीं रहती । उसके शरीर का वर्ण बड़ा उज्जवल एवं तेजस्वी हो जाता है तथा वाणी में मधुरता आ जाती है, शरीर से सुगन्ध निकलने लगती है तथा उसे मल और मूत्र बहुत कम मात्रा में होने लगता है । ये सब योगमार्ग की प्राथमिक सिद्धियाँ कही गयी है ।

**भगवत्प्राप्ति एवं दुःखों की निवृत्ति :-**

उपरोक्त कायिक एवं ऐन्द्रिय सिद्धियों के साथ-साथ ध्यानाभ्यासी साधकं ईश्वरप्राप्तिरूप अलभ्य लाभ को पाकर कृतार्थ हो जाता है और दुःखों से सदा-सदा के लिये छूट जाता है । तब उसके लिये कुछ भी पाने योग्य, जानने योग्य और करने योग्य शेष नहीं रह जाता । देखिये :-

यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं,
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही,
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।
(श्वेता. उप.२/१४)

जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त हुआ प्रकाशयुक्त रत्न भी मिट्टी सा ही दिखाई देता है, अपने असली रूप में प्रकट नहीं होता किन्तु वही रत्न मिट्टी आदि को हटाकर भली-भांति धुल जाने पर चमकने लगता है । इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर से संचित कर्मसंस्कारों तथा वासनारूप मल को ध्यानयोग की साधना द्वारा धोकर साधक आत्मा के वास्तविक स्वरूप को देख पाता है । जिससे वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त करके सब प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है और कृतकृत्य हो जाता है ।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं,
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।
(श्वेता.उप.२/१५)

आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर जब ध्यानयोगी दीपक के सदृश प्रकाशमय आत्मतत्त्व के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर लेता है, तब वह अजन्मा, अचल तथा समस्त तत्वों से विशुद्ध परमदेव परमात्मा को जानकर सब बन्धनों से छूट जाता है ।

ईश्वरप्राप्ति ही मानव जीवन का परम पुरूषार्थ है । अतः कल्याणकामी व्यक्ति को ध्यानयोग परायण होकर परमदेव परमेश्वर को तत्त्वतः जानने की चेष्टा करनी चाहिये । अन्यथा उस परम पुरूष परमात्मा को जाने बिना मनुष्य दुःखों से छूट नहीं सकता ।

(अध्याय १०)

# मन्त्रयोग विज्ञान

योगदर्शन के विभूतिपाद के पहले ही सूत्र में कहा गया है - जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से योग सिद्धियाँ प्राप्त होती है । मन्त्र जप को स्वाध्याय भी कहा जाता है और इसकी गणना यम नियमों में की जाती है । इसके अतिरिक्त विक्षिप्त चित्त (चंचल मन) वाले मध्यम श्रेणी के योग साधकों के लिए योग दर्शन के समाधि पाद में जो क्रिया-योग की साधना बताई गई है उसमें मन्त्र जप को ही महत्व दिया गया है ।

मन्त्र जप के प्रभाव से साधना में आने वाले सभी अन्तराय (विध्न) स्वतः नष्ट होते जाते हैं, अविद्यादि क्लेश क्षीण होते हैं और साधक को समाधि लाभ हो जाता है ।

'मननात् त्रायत इति मन्त्र' इस परिभाषा के अनुसार मन्त्र जप हमें लौकिक चिन्ताओं से मुक्त रखता है तथा सभी प्रकार के अरिष्टों से बचाता है । मन्त्र जप की सहायता से ही हम अतुलशक्ति सम्पन्न एवं वायु के समान चञ्चल अपने मन को वश में कर सकते हैं ।

इस प्रसंग में यह कहानी आप लोगों ने सुन रखी होगी कि - किसी किसान ने एक प्रेत को वश में कर लिया । वह प्रेत उससे बोला - मैं एक शर्त पर तुम्हारे पास रह सकता हूँ कि तुम्हें मुझे हर समय काम पर लगाये रखना होगा अन्यथा मैं तुम्हें खा जाऊँगा । उसने यह शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली और प्रेत को अपने साथ घर ले जाकर उसे लकड़ी चीरने के काम में लगा दिया । प्रेत ने कुछ क्षणों में ही सारी लकड़ी चीर दी एवं बोला - ''अब मुझे कोई और काम बताओ,'' उस व्यक्ति ने उसे खेतों में गोबर डालने का काम सौंपा और सोचने लगा कि यह दो-चार दिन में ही सारा गोबर घर से ढोकर खेतों में पहुँचा देगा और वहाँ डाल देगा। तब इसे किसी और काम पर लगा दूँगा किन्तु यह देखकर वह बड़ा हैरान-परेशान हो गया जब कि वह प्रेत आधे घन्टे के अन्दर ही सारा काम निपटा कर उसके सामने आकर खड़ा

हो गया और बोला : 'सारा गोबर खेतों में डाल दिया गया है, अब मैंने क्या काम करना है ? तब उसने उसे घास काटने के काम में लगा दिया और मन ही मन सोचने लगा कि यह अच्छी परेशानी मोल ली, प्रेत तो एक क्षण भी चैन नहीं लेने दे रहा है, अब मैं उसे क्या क्या काम बताऊँ ? महीनों का काम वह घण्टों में ही कर दे रहा है । जब भी उसके पास काम नहीं होगा, वह मुझे खा जायेगा । अब इस परेशानी से बचने का कोई उपाय सोचना चाहिए । वह किसान बुद्धिमान था, उसे तत्काल ही एक युक्ति सूझी कि आंगन में एक मजबूत बाँस गड़वा दिया जाये और जब कोई दूसरा काम नजर न आये तो इस धूर्त्तप्रेत को कहा जाये कि वह लगातार उस बाँस पर चढ़ता रहे और उतरता रहे । ज्यों ही प्रेत अपना काम समाप्त करके लौटा तो उसने उसी से बाँस मंगवाकर वहाँ गड़वा दिया और बोला- जब तक तुम्हें किसी और काम के लिए न कहूँ, तुम लगातार इस बांस पर चढ़ते-उतरते रहो । इस प्रकार उस व्यक्ति ने बुद्धिमत्ता से काम लेकर उस अनर्थकारी प्रेत से अपनी रक्षा ही नहीं की बल्कि उससे कई दुष्कर कार्यों को करवाता रहा ।

इस कथा में बड़ा गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है । यह प्रेत और कोई नहीं बल्कि हमारा अपना चंचल एवं शक्तिशाली मन ही है । उसके अनर्थकारी कृत्यों से बचने तथा उसकी अपरिमित शक्ति से लाभ उठाने का एक मात्र यही उपाय है कि उसे मन्त्र जप रूप बाँस पर चढ़ने-उतरने के काम में लगा दिया जाये । श्वास-प्रश्वास से मन्त्र जप करना ही बाँस पर चढ़ना-उतरना है तथा वह बाँस हमारी रीढ़ की हड्डी का बोधक है, जिसके अन्दर हमारे सूक्ष्म शक्ति केन्द्र (षट्चक्र) प्रसुप्त रूप में स्थित हैं । अभिप्राय यह कि - श्वास-प्रश्वास से मन्त्र जप करते रहने से मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है और रीढ़ की हड्डी के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी के बीचों बीच होती हुई ऊर्ध्वगमन करती है, जिससे शेष प्रसुप्त सूक्ष्म शक्ति केन्द्र भी जाग्रत हो उठते हैं । फलस्वरूप उन चक्रों के अधिष्ठाता देवता जपकर्ता को अपनी दिव्य शक्तियों से विभूषित कर देते हैं ।

मन्त्रजप को ही मन्त्रयोग कहा जाता है । मन्त्र की महिमा बताते हुए तन्त्र शास्त्र में कहा गया है:-

**मोचयन्ति च संसारात् योजयन्ति परे शिवे ।**
**मनन त्राण धर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः ।।**

अर्थात् - मन्त्र जपकर्त्ता साधक को संसार बन्धन से छुड़ाकर परम कल्याणकारी परमेश्वर से मिला देते हैं । मनन त्राण - धर्मी होने के कारण अर्थात् जपकर्त्ता की हर प्रकार से रक्षा और परम कल्याण करने वाले होने के कारण ही उन्हें मन्त्र कहा जाता है ।

योगशास्त्र में मन्त्रयोग को स्वाध्याय कहा गया है और उसका फल सिद्धों की कृपा तथा समाधि की प्राप्ति बताया गया है । योगदर्शन में साधनपाद के पहले सूत्र में क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय शब्द की परिभाषा करते हुए भाष्यकार श्री ब्यासदेव जी महाराज ने कहा है :-

ओंकार आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना या वेद, उपनिषद, गीता, महाभारत, भागवत्पुराण आदि मोक्षदाता ग्रन्थों का पाठ और मनन करना स्वाध्याय कहलाता है । योगदर्शन के ही समाधिपाद के सूत्र संख्या 27, 28 और 29 में महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने मन्त्रजप की विधि और उसका फल इस प्रकार बताया है :-

तस्य वाचकः प्रणवः । (यो०द० 1/27)
तज्जपस्तर्थ भावनम् । (यो०द० 1/28)
ततः प्रत्यक् चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(यो०द० 1/29)

अर्थात् - उस ईश्वर का नाम ओंकार है । इसलिये ओंकार का जप करना चाहिये और उसके साथ साथ नामी परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये । ऐसा करने से योगमार्ग के सभी विघ्न दूर हो जाते हैं और साधक को अन्तरात्मा के दर्शन हो जाते हैं । इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रातः स्मरणीय श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है :-

**स्वाध्याद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।**
**स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।**

अर्थात् - साधक स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि किसी आसन पर अपनी गर्दन, सिर एवं कमर को एक सीध में रखता हुए बैठे । इस प्रकार बैठकर

पहले तो कम से कम एक घंटा अपने गुरुमन्त्र अथवा इष्टमन्त्र का जप करो । जप करते करते जब मन एकाग्र होने लगे तो अपने इष्टदेव का ध्यान करना आरम्भ कर दें । ध्यान में यदि मन न लगे तो पुनः जप करना आरम्भ कर दें । जप में यदि मन न लगे तो दो-चार मिनट तक ओंकार का उच्च स्वर में जप करना चाहिये और उसके बाद अपने मन्त्र का उपांशुजप करना चाहिये । तदनन्तर पुनः ध्यानाभ्यास करना चाहिये । इस प्रकार जप के बाद ध्यान और ध्यान के बाद जप का दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर साधक को अन्तरात्मा के दर्शन हो जाते हैं ।

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है । मन अत्यन्त शक्तिशाली है किन्तु संकल्प-विकल्पात्मक होने से वह प्रतिक्षण किसी न किसी विषय पर चिन्तन करना रहता है । जिससे उसकी शक्तियाँ बिखरी रहती हैं । एक समय में एक ही विषय पर चिन्तन हो सकता है । यदि कोई दूसरा विषय सामने आये तो मन उसी विषय पर ही चिन्तन करना आरम्भ कर देता है । उसके चिन्तन का पहला विषय स्वतः ही छूट जाता है। *मन्त्रयोग मन की चंचलता को मिटाने का, उसके चिन्तन की दिशा बदलने का और उसे अन्तर्मुखी बनाने का एक उत्कृष्ठ एवं सरल साधन है । मन को मन्त्ररूपी डोरी से बाँधकर सब ओर से हटाकर आत्मचिन्तन मे लगाये रखना मन्त्रयोग कहलाता है ।*

मन्त्रजप दो प्रकार का होता है - वाचिक और मानसिक । वाचिक जप के पुनः दो भेद है :-

(1) ऊर्च और (2) उपांशु

इसी प्रकार मानसिक जप के भी दो भेद हैं -

(1) मनन और (2) ध्यान ।

बोलकर किसी मन्त्र का जप करना ऊर्च जप कहलाता है । यदि जप करते हुए आवाज बाहर न सुनाई दे किन्तु होंठ और जिह्वा हिलती रहे तो वह जप उपांशु जप कहलाता है । श्वास-प्रश्वास द्वारा मन्त्र का जप या मन ही मन मन्त्र का मनन करते रहना मानसिक जप कहलाता है ।

उपनिषदों में मन्त्रयोग की महिमा का स्थान स्थान पर वर्णन मिलता है । श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है कि -मन्त्रजप और ध्यानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण

का मंथन करते रहने से अपने ही अन्दर छिपे हुए परमात्मा प्रकट हो जाते हैं ।

कठोपनिषद में ओंकार के जप की महिमा के वर्णन में कहा गया है :-

**एतद् हयेवाक्षरं ब्रह्म एतद् ह्येवाक्षरं परम् ।**
**एतद् हयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।**
**एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम् ।**
**एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।**

यह अविनाशी ओंकार ही परमेश्वर का स्वरूप है और यहीं परब्रह्म पुरूषोत्तम है । अत: इस तत्व को समझकर साधक इसके द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सकता है ।

यह ओंकार ही परमेश्वर की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है । इससे परे और कोई सहारा नहीं है । इस रहस्य को समझ कर जो साधक श्रद्धापूर्वक इस ओंकार पर निर्भर रहता है वह परमात्मा को पा लेता है, यह निश्चित बात है । इसलिये -

**वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषातत्समभ्यसेत् ।**
**मनसा तन्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ।।**
**शुचि वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।**
**न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।**

उस परम ज्योति स्वरूप ओम का वाणी से सदा जप करते रहना चाहिये । शरीर से सदैव उसका अभ्यास करना चाहिये । अर्थात् अष्टांगयोग का अभ्यास करना चाहिये और मन से मन्त्र के नामी परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।

साधक चाहे पवित्र हो और चाहे अपवित्र हो उसे दोनों ही अवस्थाओं में सदैव मन्त्र जाप करते रहना चाहिये । जो व्यक्ति ऐसा करता है वह पाप से कभी लिप्त नहीं होता और संसार में रहता हुआ भी कमलप्त्रवत् उससे निर्लिप्त रहता है ।

मन्त्र चाहे कोई भी हो वह अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है । सभी मन्त्रों के ऋषि और देवता होते हैं । किन्तु गुरूप्रदत्त मन्त्र की विशेष महिमा है । उसकी शक्ति की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती ।

जब वे किसी को मन्त्रदीक्षा देते हैं तो मन्त्र को चिन्मय बनाकर उसे शिष्य को प्रदान करते हैं । मन्त्र के साथ गुरुदेव का सूक्ष्म शरीर अर्थात् उनका मन भी शिष्य के अन्दर प्रवेश कर जाता है । तब वह मन्त्र ही शिष्य का मार्गदर्शक और संरक्षक बन जाता है । शिष्य अपने गुरुमन्त्र का जितना अधिक जप करेगा वह गुरुदेव की उतनी ही अधिक समीपता अनुभव करेगा और उतनी ही अधिक उस पर सद्गुरु की कृपा होगी।

**मन्त्र जप के चमत्कारी प्रभाव का वैज्ञानिक आधार यह है कि – यह सृष्टि – पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच महा भूतों से बनी हुई है । स्थूल भूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म रूपों में अधिक शक्ति होती है तथा उनसे भी अधिक शक्तिशाली उनकी तन्मात्रायें होती हैं ।**

उदाहरण के लिये पृथ्वीं एक महाभूत है । इसमें पैदा होने वाली वनस्पतियाँ इसका स्थूल रूप है । ये वनस्पतियाँ सब प्राणियों को पुष्ट करती हैं । अतः इसमें पोषण करने की शक्ति होती है । किसी पदार्थ से निकाला गया सत उस पदार्थ से अधिक शक्तिशाली होता है, वनस्पतियों से ही तैयार किया जाने वाला इन्जेक्सन पृथ्वी तत्व का ही सूक्ष्म रूप है जो कि – उन वनस्पतियों से कई गुणा अधिक प्रभावकारी होता है । लोहभस्म, स्वर्णभस्म, रजतभस्म और मोतीभस्म आदि भस्में लोहा, सोना, चाँदी, मोती आदि धातुओं का सूक्ष्म रूप होने के कारण धातु से अधिक प्रभावकारी होती हैं । गन्धक, लोहा, रेडियम आदि धातुओं के सूक्ष्म परमाणुओं से बना हुआ परमाणु बम कुछ ही मिनटों में सारे विश्व को समाप्त करने की सामर्थ्य रखता है ।

ठीक इसी प्रकार आकाश महाभूत का सूक्ष्म रूप (तन्मात्रा) ''शब्द'' है । मुँह से उच्चारित किया गया प्रत्येक शब्द आकाश में हमेशा विद्यमान रहता है । **''शब्द गुणात्मकं – आकाशम्'' इस परिभाषा के अनुसार शब्द ही आकाश का गुणधर्म है । मन्त्र शब्दों से बने होते हैं । अतः आकाश तत्व की तन्मात्रा होने के कारण मन्त्र स्वतः ही शक्ति का रूप होता है । क्योंकि जहाँ शब्द होता है वहाँ उस शब्द से विस्फोट भी अवश्य होता है और जहाँ विस्फोट अथवा कम्पन होता है वहां शक्ति अवश्य प्रकट होती है ।**

मन्त्र का बार बार उच्चारण करने से, उसे बार बार जपने से जो घर्षण होता है उससे ठीक उसी प्रकार शक्ति प्रकट हो जाती है जिस प्रकार आकाश में दो बादलों के घर्षण से (उनका आपस में टकराने से) बिजली प्रकट हो जाती है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर मन्त्रजप करते रहने से ज्यों ज्यों जप में सूक्ष्मता आती है त्यों-त्यों योगाभ्यासी के अन्दर शक्तियों का विकास होता जाता है । मन्त्रजप के फलस्वरूप अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि हो जाने से उसकी समाधि उत्तरोत्तर परिपक्व होती जाती है ।

वस्तुतः मन्त्रदीक्षा से ही योग आरम्भ होता है । योग की चार श्रेणियाँ-मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इनमें मन्त्रयोग सर्वप्रथम है । मन्त्रयोग से साधक राजयोग और सिद्धयोग तक पहुँचता है । यही कारण है कि - आदि योगी योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता में "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" कहकर मन्त्रयोग को अपना स्वरूप बताया है ।

अतः हमें अपने जीवन को योगमय बनाने के लिये मन्त्रजप का अभ्यास बढ़ाना चाहिये ।

(अध्याय ११)

# संकल्प शक्ति

विचारों का दूसरा नाम ही संकल्प है । शुभ संकल्पों में अद्‌भुत शक्ति होती है । इसके बल पर मनुष्य कई प्रकार के चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकता है ।

सम्मोहन विद्या की विविध क्रियायें - कृत्रिम निद्रा, मार्जन, वशीकरण, प्रेरणा सन्देश देकर या मार्जन क्रिया द्वारा रोगी को रोगमुक्त करना, टेलीपैथी, तथा दिव्यदृष्टि आदि सब क्रियायें संकल्पों पर ही आधारित होती हैं। शुभ संकल्पों के आधार पर ही आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्य के अन्दर शक्तिसंचार करते हैं तथा उसके मन में प्रेरणा देकर उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने में समर्थ होते हैं । वरदान की शक्ति शुभ - संकल्पों का ही परिणाम होता है ।

योग साधक को पहले तो किसी प्रकार का संकल्प नहीं करना चाहिए । यदि उसके मन में कभी कोई संकल्प उठे भी तो वह कल्याणकारी ही होना चाहिए। क्योंकि साधक का संकल्प कभी निष्फल नहीं जाता। उसके मन में जो भी शुभ - अशुभ संकल्प उठेगा वह अवश्य पूरा होकर रहेगा । वह अपने तथा दूसरों के प्रति जैसे विचार रखेगा, वह निश्चित ही वैसा बन जायेगा । अत: हमें अपने तथा दूसरों के प्रति सदा उदार विचार रखने चाहिए । हीनता एवं घृणा के भाव मन में उठने ही नहीं देने चाहिए । अन्यथा उसका कुपरिणाम भी हमें ही भोगना पड़ेगा । जैसे : -

स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में : -

"Every Bit of hatred that goes out of the heart of a man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him."

अर्थात् घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दर से बाहर जाता है, वह अपने पूरे बल से उसी के पास वापस आ जाता है, संसार की कोई भी शक्ति उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकती । इसके विपरीत यदि हम दूसरों के प्रति प्रेम और

आत्मीयता का भाव रखेंगे तथा उनके कल्याण के लिये शुभ संकल्प करेंगे तो बदले में हमें विश्वभर का प्रेम मिलेगा । जिससे हमारा कल्याण भी स्वतः होता रहेगा ।

यही कारण है कि हमारे पूर्वज अपनी दैनिक उपासना में प्रभु से यह प्रार्थना करते आये हैं कि सब लोग सुखी रहें, सब लोग निरोग रहें, सबका कल्याण हो, किसी को तनिक भी दुःख न हो । जैसे :

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया : ।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ।।**

जीवन में संकल्प का बड़ा महत्त्व है । हमारा प्रत्येक कर्म, प्रत्येक आचरण संकल्प पर आधारित होता है। जीवन में उन्नति और अवनति मनुष्य के अपने संकल्प पर ही निर्भर होती है । वेदों में संकल्प को ही सृष्टि का आधार बताया गया है और कहा गया है कि - जब जगत की रचना का समय आता है उस समय परमेश्वर अपने संकल्परूप तप से वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं । अर्थात् उनके मन में विविध नाम, रूपों वाली सृष्टि का संकल्प उठता है तो उनके संकल्प मात्र से यह विराट जगत अपने आप ही प्रकट हो जाता है । परमेश्वर के सत्य संकल्प से आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी ये पंचमहाभूत, विविध लोक, विविध नाम रूपों वाले समस्त प्राणी तथा उनका आहार ये सभी स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

संकल्प का उद्‌गमस्थान हमारा शक्तिशाली मन है । हर प्रकार के शुभ-अशुभ संकल्प मन में ही जन्म लेते हैं । यही कारण है कि - यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में ईश्वर से बार-बार यह प्रार्थना की गई है कि - मेरा मन पवित्र संकल्पों वाला बन जाये । जैसे :-

**ऊँ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवेति ।**
**दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु ।।**

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

**येन कर्माण्यपसो मनीषियो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।**
**यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।**

कर्मशील, मनीषी और धीरपुरुष जिसके द्वारा परोपकार के क्षेत्र तथा जीवन संघर्ष में बड़े-2 कार्य कर दिखाते हैं । जो समस्त इन्द्रियों के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

**यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।**

**यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।**

जो नित नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए विषय का अनुभव कराता है और संकट में धैर्य धारण कराता है, जो समस्त इन्द्रियों के अन्दर एक अमर ज्योति है तथा जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता वह मेरा मन शुभसंकल्पों वाला हो ।

**"संकल्प-विकल्पात्मकं मन :"** इस परिभाषा के अनुसार संकल्प ही मन का स्वरूप है अतः वह संकल्पों से सदैव प्रभावित रहता है । संकल्प दोनों प्रकार के होते हैं शुभ और अशुभ । शुभ संकल्प व्यक्ति, समाज और विश्व के लिये कल्याणकारी होते हैं और अशुभ संकल्प सबके ही विनाश और पतन के कारण बन जातें हैं । किसी को वरदान देना, आशीर्वाद देना, प्राणियों के कष्ट निवारण के लिये अथवा अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिये मन में बार-बार विचार करते रहना, अपने तथा दूसरों के प्रति उदार विचार रखना तथा जनहित के किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने का मन में बार-बार विचार करना, ये सब शुभ संकल्प कहलाते हैं । पवित्र मन में ही पवित्र संकल्प जन्म लेते हैं । मनुष्य का मन जितना पवित्र होगा उसका संकल्प भी उतना ही प्रभावकारी होगा । पवित्र संकल्प के फल स्वरूप साधक के अन्दर इच्छा शक्ति (Will Power) भी बड़े चमत्कारिक रूप से विकसित होती जाती है । जिसके बल पर वह बड़े बड़े आश्चर्यजनक कार्यों को कर डालता है ।

सिद्धयोगी सत्यसंकल्प हुआ करते हैं । उनका कोई भी संकल्प मिथ्या सिद्ध नहीं होता । उनके मन में जो भी संकल्प बनता है या वे वाणी से जो कुछ कह देते हैं, वैसा ही हो जाता है । वे अपनी संकल्प-शक्ति से असम्भव से असम्भव कार्य

को भी सम्भव कर देते हैं । महर्षि विश्वामित्र ने अपने संकल्पमात्र से राजा त्रिशंकु को जीवित ही स्वर्ग भेज दिया था और जब देवराज इन्द्र ने स्वर्गलोक की मर्यादा की रक्षा के लिये त्रिशंकु को नीचे धकेल दिया तो श्री विश्वामित्र जी ने अपनी संकल्पशक्ति से राजा त्रिशंकु को अन्तरिक्ष में ही रोक दिया और वहीं उसके लिये आवश्यक आहार अन्न, वनस्पति आदि पैदा कर दिये ।

जनकपुत्री परमयोगिनी सीता जी ने विवाह के अवसर पर अपने संकल्प बल से ऋद्धि-सिद्धि को बुलाकर बारात का अलौकिक आतिथ्य किया था । राजा भरत के सेना सहित अचानक आश्रम में पहुँच जाने पर महर्षि भरद्वाज जी ने अपनी संकल्पशक्ति से क्षण भर में वहाँ राजोचित महल, दास-दासी तथा उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ जुटा दिये । महर्षि अगस्त्य ने अपने संकल्प से एक आचमन जल पीकर सारा समुद्र सुखा दिया । इस प्रकार की असंख्य अलौलिक घटनायें योगियों के चरित्र में मिलती हैं, जिनका आधार संकल्पशक्ति ही है । हमारे गुरुदेव योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज भी इसी कोटि के सिद्ध हुए हैं । उनके पावन जीवनचरित्र में इस प्रकार की अनेकों अलौकिक घटनायें दिखाई देती हैं, जिनका आधार उनका दृढ़ संकल्प ही रहा है।

संकल्प शक्ति से ही सिद्ध गुरु अपने शिष्यों पर शक्तिपात किया करते हैं। इसी शक्ति से वे दूर बैठे अपने शिष्यों से आत्मिक सम्बन्ध बनाकर उन्हें प्रेरणा अथवा आदेश देते हुए उनका मार्गदर्शन करते रहते हैं । शिष्य के जन्म-जन्मान्तर में भोगे जाने वाले क्लिष्ट संस्कारों का सिद्धगुरु अपने संकल्प से कुछ वर्षों में, कुछ दिनों में अथवा कुछ क्षणों में ही भुगतान कराकर उसे निष्पाप बना देते हैं । कई बार शिष्य के क्लिष्ट भोगसंस्कारों का अपने संकल्प से अपने शरीर में ही भुगतान करके उसका महान् संकट खेल-खेल में ही टाल देते हैं । दीक्षा में भी गुरु का संकल्प ही काम करता है । गुरुदेव शिष्य को दृग् दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, हार्द दीक्षा आदि दीक्षायें देते हुए अपने संकल्प से उसके अन्दर शक्तिसंचार करके उसे जैसा चाहें वैसा बना दिया करते हैं । रोगी को नीरोग, निर्धन को धनी, अल्पायु को दीर्घायु, मूर्ख को विद्वान् तथा पापी को पुण्यात्मा बना देना उनके लिये साधारण सी बात है । वे अपने पवित्र संकल्प के बल पर अपने सुपात्र शिष्यों को भी वाक्सिद्धि संकल्पसिद्धि आदि का अमोघ वर देने की सामर्थ्य रखते हैं ।

इस प्रकार योगी अपनी संकल्पशक्ति से नाना प्रकार के चमत्कारपूर्ण

अलौकिक कार्य किया करते हैं। इसके लिये उन्हें किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता । इस प्रकार के अद्‌भुत कार्य करने में उनकी आत्मिक शक्ति में भी किसी प्रकार की कमी नहीं आती । क्योकि वे समुद्र की भाँति असीम एवं निष्काम होते हैं। जिस प्रकार समुद्र से चाहे कितना ही जल निकालते रहो उसमें कोई न्यूनता नहीं आती, उसी प्रकार सिद्धों की शक्ति में भी न्यूनता नहीं आती । इसका कारण यह है कि शक्ति के अक्षय एवं अनन्त स्त्रोत परब्रह्म परमात्मा से उनका निरन्तर सम्बन्ध जुड़ा रहता है । दूसरा कारण यह है कि वे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहते । उनका कोई भी लौकिक स्वार्थ नहीं होता । त्रयतापपीड़ित जीवों का कल्याण करना ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है । जब कभी किसी मनुष्य को संकट में पड़ा देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है और उसमें यह भावना उठती है कि इसका यह कष्ट दूर हो जाना चाहिए तो वैसा ही हो जाता है। इसी प्रकार अपने किसी शिष्य या सामान्य व्यक्ति के श्रेष्ठ आचरण को, विशिष्ट गुणों को या आदर्श भक्तिभाव को देखकर जब कभी उनका हृदय आल्हादित हो उठता है तो उस आल्हाद में, उस उमड़ते हुए प्यार में जो भी संकल्प उनके मन में उठता है । वही तत्काल फलीभूत होकर उस व्यक्ति के परम कल्याण का हेतु बन जाता है ।

संकल्पशक्ति मानव जाति के लिये ईश्वर की एक अनुपम देन है । योगसाधना द्वारा अपने मन को एकाग्र एवं संकल्परहित बनाकर कोई भी मनुष्य इस शक्ति का संचय कर सकता है । केवल-मात्र यमों एवं नियमों का दृढ़ता से पालन करते रहने से ही साधक के अन्दर इस अलौकिक शक्ति का विकास होना आरम्भ हो जाता है । उदाहरणार्थ यमों के अन्तर्गत दूसरा यम है - "सत्य" । योगदर्शन में सत्य के पालन का फल बताया गया है :-

**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।**

अर्थात् सत्य का दृढ़ता से पालन करने पर साधक की वाणी अमोध हो जाती है, उसमें सत्य का वास हो जाता है । वह जो भी वरदान, आशीर्वाद अथवा शाप देता है, वह अवश्य ही सत्य हो जाता है । इससे आगे धारणा, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास करता हुआ योगी जब सम्प्रज्ञात समाधि की चौथी श्रेणी अस्मितनुगत योग में प्रवेश कर जाता है, तब उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है । इस प्रज्ञा के उदय हो जाने पर योगी सत्यसंकल्प हो जाता है । वह जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव

करता है, जो कहता है या मन में संकल्प करता है, वह सब सत्य ही होता है, उसमें असत्य की गन्ध तक नहीं होती ।

संकल्पशक्ति के ह्रास का कारण है - मन की चंचलता । मन की वृत्तियाँ स्वाभाविकरूप से बहिर्मुखी हुआ करती हैं । अतः मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि के वशीभूत होकर प्रतिक्षण सांसारिक चिन्तन करता रहता है, जिससे उसकी शक्तियाँ बिखरी रहती हैं । योगसाधना द्वारा वृत्तियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाकर मन को पूरी तरह वश में कर लेने से उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है । जिससे उसमें संकल्पों का अभाव हो जाता है और शक्ति संगृहित होनी आरम्भ हो जाती हैं। एकाग्रता का उदय हो जाने पर यदि साधक के मन में किसी प्रकार का संकल्प उठता है तो वह या तो तत्काल पूरा हा जाता है, अन्यथा उसके लिये एक नया संस्कार पैदा कर देता है । अतः साधक को अपने मन में कभी किसी प्रकार का संकल्प नहीं करना चाहिये । संकल्पहीनता, ही सकल सिद्धियों का मूल है ।

निस्सन्देह संकल्प में (विचारों में) अद्भुत शक्ति होती है । मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं, वह वैसा ही बन जाता है । इस प्रकार जीवन निर्माण में तथा व्यक्ति और राष्ट्र के चरित्र निर्माण में हमारे संकल्प ही विशेष भूमिका निभाते हैं । अतः हमारे संकल्प पवित्र और कल्याणकारी होने चाहिये, उनमें प्राणीमात्र के कल्याण की भावना निहित होनी चाहिये । वेद भगवान् का हमारे लिये यही पवित्र आदेश है । हमें अपनी उपासना में परमेश्वर से नित्य प्रति यही प्रार्थना करनी चाहिये -

**पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदं शतं श्रृणुयाम शरदः शतं प्रबवाम शरदः शतमदीनाः श्याम शरदः शतम् ।**

(यजुर्वेद)

हम सौ वर्ष तक कल्याण देखते रहें, हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक शास्त्रों को सुनते रहें, सौ वर्ष के अपने जीवन काल में परमेश्वर की लीला कथाओं की सदैव चर्चा करते रहें तथा सौ वर्ष तक अदीन होकर सुखी जीवन व्यतीत करें ।

साधक के अन्दर आत्महीनता की भावना बिल्कुल नहीं होनी चाहिये । उसमें पूर्ण आत्मविश्वास होना चाहिये और उसका अपने लिये यही पवित्र संकल्प होना चाहिये ।

**अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्ति पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः ।**

(तैतरीयोपनिषद्)

मैं संसार वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ । मेरी कीर्ति पर्वत शिखर की भांति उन्नत एवं विशाल है । अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में जैसे उत्तम अमृत है, वैसे ही मैं भी अतिशय पवित्र, रोग, दोष आदि से रहित अमृत स्वरूप हूँ । मैं प्रकाशरूपी धन का भण्डार हूँ तथा परमानन्दरूप आनन्द में निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धि वाला हूँ ।

(तैतरीयोपनिषद्)

अतः हमें शुक्ल यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्रांश को सदैव स्मरण रखना चाहिये :-

**"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।"**

(अध्याय-१२)

# चित्तशुद्धि एवम् समाधि

प्रातःस्मरणीय भगवान् पतंजलिदेव जी ने ''योगश्चित्तवृति-निरोधः'' कह कर चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग बतलाया है । चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ है-चित्त का लौकिक विषयों के चिन्तन से हट जाना । चित्त जब तक रागद्वेषादि दोषों से कलुषित रहेगा, तब तक वृत्तिनिरोध होना असंभव है । अतः समाधि प्राप्ति के लिये चित्तशुद्धि परमावश्यक है । चित्तशुद्धि का महत्व बताते हुये मैत्रैयी उपनिषद् में कहा गया है :-

चितमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ।
चितस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ।।

चित्त ही संसार है । अतः उसे प्रसन्तापूर्वक शुद्ध करना चाहिये । जिसका जैसा चित्त होता है, वह वैसा ही बन जाता है, यह एक सनातन सिद्धान्त है । चित्त शान्त होने पर साधक के सभी शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा प्रशान्त चित्त वाला साधक समाधि अवस्था को प्राप्त होकर कभी नष्ट न होने वाले आनन्द के भण्डार को पा जाता है गीता में भी कहा गया है :-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्यासु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

चित्त की निर्मलता हो जाने पर साधक के अन्दर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है और प्रसन्नचित मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है अर्थात् वह समाधि को पा जाता है ।

अतः साधक को सर्वप्रथम चित्तशुद्धि के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये । चित्त की

मालिनता के क्या कारण हैं और उसकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ? इस रहस्य को समझाते हुए त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् में कहा गया है :-

जीव अनन्तकाल से अनेकों सूक्ष्म, स्थूल, उत्तम तथा अधम शरीरों को धारण करता हुआ उन-उन शरीरों से प्राप्त होने योग्य अनेकों शुभ-अशुभ प्रारब्ध कर्मों का भोग करता रहता है । जिस कारण उसका अन्तःकरण उन-उन कर्मों की वासना से लिप्त रहता है । अतः बार-बार उन-उन कर्मों के फलस्वरूप विषयों में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, निवृत्ति नहीं होती । ब्रह्मसुख की प्राप्ति के लिये उसे प्रवृत्ति नहीं होती । अज्ञान की प्रबलता के कारण जीव मोक्ष का विचार तक नहीं करता । जब अनेक जन्मार्जित पुण्यों का उदय होता है तो ईश्वर की अपार कृपा से सत्पुरुयों का संग प्राप्त होता है । जिससे मनुष्य को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध होता है और तब वह कल्याणमार्ग पर चलना आरम्भ करता है, जिसके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ।

उपनिषदों में चित्तशुद्धि को ही समाधि का जनक बताया गया है । जब तक साधक का चित्त राग-द्वेष आदि दोषों से कलुषित रहेगा तब तक उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता । जैसे :-

**स्वशरीरे स्वयं ज्योतिस्वरूपं परमार्थिकम् ।**
**क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृताः ।।**
**(पाशुपतब्रह्मोपनिषद्)**

जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है और जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, वे योगपरायण साधक ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा का दर्शन करते हैं, माया में फंसे हुए अज्ञानी लोग उसको देख नहीं सकते ।

चित्तशुद्धि के लिये सर्वप्रथम हमारा आहार शुद्ध एवं सात्त्विक होना चाहिये।

छान्दग्योपनिषद् में भी यही बात कही गई है :-

**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।**

छान्दग्योपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि-मनुष्य जिस प्रकार का अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है, क्योंकि मन अन्नमय है, प्राण आपोमय होते हैं और वाणी तेजोमयी होती है । जैसे:-

**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठः धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।**

**आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठः धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठ स प्राणः ।**

**तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ।**

**(छान्दग्योपनिषद्)**

खाया हुआ अन्न तीन रूपों में परिणत हो जाता है । उसका सबसे स्थूल भाग मल बन जाता है, जो मध्यम है, वह मांस और जो सबसे सूक्ष्म है, वह मन बन जाता है ।

इसी प्रकार पिया हुआ जल तीन रूपों में विभक्त हो जाता है, उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम भाग है, वह रक्त बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग है, वह प्राण बन जाता है ।

खाये हुए घी, तेल आदि तैजस पदार्थ भी तीनों रूपों में परिणत हो जाते हैं। उसका जो स्थूल भाग है, वह हड्डी बन जाता है, जो मध्यम भाग है, वह मज्जा बन जाती है और जो सूक्ष्म भाग है, उससे वाणी बनती है ।

**दध्नः सोम्यः ! मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिः भवति । एवमेव सौम्य ! अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ।**

**(छान्दग्योपनिषद्)**

जब दही मथा जाता है, तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है और वह

मक्खन बनता है । ठीक इसी प्रकार हे सौम्य ! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है, वही मन बन जाता है ।

अतः मन, प्राण एवं वाणी में पवित्रता एवं ओजस्विता लाने के लिये यह आवश्यक है कि - साधक का खान-पान सात्त्विक हो ।

अष्टांगयोग चित्तशुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन है । योगदर्शन में कहा गया है:-

**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।**

अष्टांगयोग का अभ्यास करने से चित्त के मल समाप्त हो जाते हैं और वह सर्वथा निर्मल हो जाता है । उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक हो जाता है । अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न दिखलाई देता है । योगदर्शन में चित्तशुद्धि के लिये दो सरल साधन बताये गये हैं । उनमें पहला साधन है :-

**मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।**

सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से और पापीजनों के प्रति उपेक्षाभाव रखने से चित्त के राग-द्वेष, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त निर्मल हो जाता है ।

अतः सुखी लोगों को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये, बल्कि उन्हें अपना मित्र समझते हुए उनका सुख देखकर स्वयं भी सुख अनुभव करना चाहिये। दुःखी प्रणियों को देखकर उन पर दया करते हुए उनका दुःख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये । पुण्यात्माओं को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये, बल्कि प्रसन्न होना चहिये और अपने मन में उनके प्रति प्रेम तथा आदर बढ़ाना चाहिये । पापीजनों के प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव न रखते हुए उनकी उपेक्षा करते रहना चाहिये । यह चित्तशुद्धि का एक उत्कृष्ट साधन है । दूसरा उपाय है :-

**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।**

अथवा प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और अन्दर-बाहर रोकने के अभ्यास से तथा जप-तप आदि साधनों से साधक का चित्त पूर्णतया निर्मल हो जाता है और उसमें समाधिस्थ होने की योग्यता आ जाती है । योगदर्शन का सिद्धान्त है :-

**सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि ।**

अर्थात् मैत्री आदि की भावना द्वारा, ध्यानाभ्यास द्वारा अथवा जप, तप आदि साधनों द्वारा आन्तरिक शुद्धि के लिये अभ्यास करने से साधक के अन्दर स्थित राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का नाश होकर उसका अ:तकरण पूर्ण स्वच्छ हो जाता है, मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है, चित्त एकाग्र हो जाता है और सब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं । जिससे साधक के अन्दर आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है ।

अष्टाङ्गयोग के दूसरे अंग नियम के अन्तर्गत एक नियम शौच भी है, जिसका अर्थ है-शुद्धि । ''शौच'' नियम का दृढ़ता से पालन करने पर वैराग्य के भाव पुष्ट होते हैं । शौच का फल बताते हुए योगदर्शन में कहा गया है :-

**शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।**

बाह्यशुद्धि का पालन करने से भी साधक की अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि हो जाती है तथा सांसारिक व्यक्तियों का संग करने की उसे इच्छा नहीं होती ।

बाह्यशुद्धि योगसाधना का एक अपरिहार्य अंग है और उसका विधान आन्तरिक शुद्धि के लिये ही किया गया है । इस सम्बन्ध में मैत्रेयी उपनिषद् का वचन है :-

**अहम्ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिलोचनम् ।**
**शुद्धं शौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ।।**
**चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम् ।।**

ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते ।।

मल-मूत्र आदि की शुद्धि तो मिट्टी-जल आदि से होती है किन्तु यह लौकिक शुद्धि है । वास्तविक शुद्धि तो 'मैं' और मेरा यह त्यागने से ही होती है ।

यद्यपि बाह्य पवित्रता भी चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करती है पर ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्यरूपी जल से धोने पर जो पवित्रता आती है, वही वास्तविक पवित्रता है ।

मैत्रेयी उपनिषद् में वर्णित निम्नलिखित विधि से साधना करने वाला योगसाधक शुद्धचित्त होकर उसके फलस्वरूप मोक्ष को पा जाया करता है:-

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।
अभेद्दर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।।
ब्रह्मामृतं पिबेद् भैक्ष्यमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ।।

शरीर देवालय है और उसमें वास करने वाला जीव शिवस्वरूप है । अतः साधक को चाहिये कि-वह अज्ञानरूपी मल को त्याग दे । अर्थात् अपने को शरीर न समझकर ''मैं ही वह परमात्मा हूँ'' ऐसी भावना से उस परमेश्वर की पूजा करें। क्योंकि जीव और परमेश्वर में भेद न समझना ही ज्ञान है, मन को विषय विकारों से हटाना ही ध्यान है, मन के मैल का त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना ही शुद्धि है । बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि वह सदैव परमेश्वर चिन्तनरूप अमृत का पान करता रहे और देह टिकी रहे, केवल इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करे तथा एकान्त स्थान में एकाकी वास करे । इस प्रकार आचरण करता हुआ मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

आज के घोर कलिकाल में प्रगतिवाद के नाम पर लोग मनमाना आचरण करने लग गये हैं । खान-पान की शुद्धि की ओर किसी का ध्यान जाता ही नहीं। सब का जूठा खाना और सबको अपना जूठा खिलाना तथा खड़े होकर जूते पहनकर खाना आज का फैशन बन गया है । यदि कोई व्यक्ति पवित्र एवं सात्त्विक जीवन बिताना भी चाहे तो उसे भी भ्रष्ट करने की चेष्टा की जाती है तथा उसे असामाजिक, असभ्य एवं ढोंगी आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है । तथाकथित सभ्य समाज अकारण ही उससे द्वेष करने लग जाता है । वे लोग यम-नियमों को कोरा ढ़कोसला समझते हैं । वे इस बात को भूल जाते हैं कि ये यम नियम हमारे पूर्वज ऋषियों की धरोहर हैं । ये यम-नियम ही हमारे समाज एवं सभ्यता के आधारस्तम्भ हैं । सत्य-अहिंसा आदि यम तथा शौच-सन्तोष आदि नियम जहां समाज को अनुशासित और मर्यादित रखते हैं, वहीं ये मनुष्य को योग में प्रवेश भी दिला देते हैं । योग मार्ग के पथिक को यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चित्तशुद्धि के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये । क्योंकि चित्तशुद्धि ही समाधि का प्रथम और अन्तिम सोपान है । शुद्धचित में ही, आत्मज्ञान प्रकाशित होता है । योगशिखोपनिषद् का कथन है :-

**शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्म ज्ञान प्रकाशते ।**
**तत्माज्ज्ञानं भवेद्योगाज्जन्मनैकेन पद्यज ।।**
**तत्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत् ।**
**मुमुक्षिभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मेक्षहेतवे ।।**

शुद्धचित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है । योग द्वारा एक जन्म में ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । अतः साधक को इस योग का नित्यप्रति अभ्यास करना चाहिये । मोक्ष के अभिलाषी को मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

## समाधि का स्वरूप

समाधि किसे कहते हैं और समाधि प्राप्त योगी की कैसी अवस्था होती है । इस विषय को सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में सविस्तार समझाया गया है। जैसे :-

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।।
यदा संक्षीयते प्राणः मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते ।।
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनः ।
समस्त नष्ट संकल्प समाधिरभिधीयते ।।
प्रभा शून्यं मनः शून्यं बुद्धि शून्यं निरामयम् ।
सर्व शून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ।।
स्वयमुच्चलते देहे देही नित्यसमाधिना ।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते ।।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम् ।
यत्र यत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ।।

(सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद्)

जिस प्रकार जल में मिलाया हुआ नमक उसी में घुलमिल जाने से जल ही बन जाता है उसी प्रकार मन जब आत्मा में विलीन हो जाने से अपना पृथक अस्तित्व खोकर तद्रूप बन जाता है उस अवस्था को समाधि कहते हैं ।

प्राणायाम के द्वारा सम्यक् रूप से क्षीण हुआ प्राणवायु जब कुम्भक में स्थिर हो जाता है और चित्तवृत्तियों का लोप हो जाता है तब चित्त और आत्मा में जो एकीभाव हो जाता है उसे समाधि कहा जाता है ।

समाधि उस अवस्था का नाम है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में समत्व हो जाने पर सभी संकल्प मिट जाते हैं ।

सांसारिक बोधरहित जिस स्थिति में मन, बुद्धि का पूरी तरह विलीनीकरण हो जाने पर सब कुछ शून्यवत् दिखाई पड़ता है उस निरामय अवस्था को समाधि कहा जाता है ।

शरीर के इधर-उधर चलते फिरते रहने पर भी चित्त का निश्चल बना रहना और परमेश्वर के ध्यान में मग्न रहना समाधि कहलाती है । उस अवस्था में साधक का मन जहाँ-जहाँ जाता है वहीं उसे परमपद प्राप्त होता है । उसके लिये परमेश्वर सर्वत्र ही समान रूप से विराजमान रहते हैं ।

(अध्याय १३)

# कर्मकाण्ड एवम् योग

भारतीय संस्कृति अनादिकाल से ही कर्मकाण्ड से अनुप्राणित रही है । कर्मकाण्ड के आधार वेद हैं । वेदों में साधना के तीन भाग किये गये हैं :- कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासना काण्ड। इनमें से कर्मकाण्ड का भारतीय जनजीवन में विशेष महत्त्व है । क्योंकि हिन्दुओं के सभी संस्कार और परम्परायें कर्मकाण्ड पर ही आधारित हैं । उपनिषदों में कर्मकाण्ड को कर्मयोग का ही एक अंग माना गया है और कहा गया है कि कल्याणकामी मनुष्य को सभी प्रकार की कामनाओं को त्याग कर फल की इच्छा न रखते हुए निरभिमान होकर ईश्वर प्रीत्यर्थ ही शास्त्रों में विधान किये गये कर्मों को करना चाहिये । इस प्रकार निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्म मनुष्य को योगारूढ़ बनाकर उसकी मुक्ति के साधन बन जाते हैं । इसके विपरीत सकाम भाव से अहंकारपूर्वक किये गये यज्ञ-यागादि पवित्र कर्म भी उसके बन्धन के कारण बन जाते हैं। देवताओं और पितरों का पूजन, दर्श-पौर्णमास आदि अठारह प्रकार के यज्ञ, पुराणों का पारायण, व्रत-उपवास, वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त मन्त्रों का जाप एवं पुरश्चरण ये सभी क्रियायें कर्मकाण्ड के अन्तर्गत गिनी जाती हैं । कर्मकाण्ड की ये सभी क्रियायें मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इच्छित भोगों को प्रदान करने में समर्थ होती हैं, किन्तु उसे परमेश्वर की प्राप्तिरूप शाश्वत सुख नहीं दे सकती । यदि कोई विवेकशील मनुष्य फल की इच्छा न रखते हुए ईश्वरार्पण बुद्धि से ईश्वर प्रीत्यर्थ ही उपरोक्त कर्मों को करता जाता है तो कालान्तर में पुण्य बढ़ जाने के फलस्वरूप उसे सिद्ध संगति और पवित्र योगमार्ग मिल जाता है । जिससे वह संसार - बन्धन से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार योग सिद्धान्तों

का पालन करते हुए की जाने वाली कर्मकाण्ड सम्बन्धी क्रियायें भोग के साथ-साथ मोक्ष की दात्री भी हो सकती है । किन्तु सकाम भाव से किये जाने पर ये क्रियायें भी मनुष्य के बन्धन का हेतु बन जाती हैं ।

अखिल ब्रह्माण्ड नियन्ता योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है -

**त्रैविद्या मां सोमपा पूतपाताः**
**यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते ।**
**ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक -**
**मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।**

**(गीता ६/२०)**

तीनों वेदों में विधान किये गये कर्मकाण्ड पर अतिशय प्रेम और श्रद्धा रखते हुए सकाम भाव से यज्ञादि पवित्र कर्मो को करने वाले सोमरस को पीने वाले एवं पापों से पवित्र हुए पुरूष मुझ परमेश्वर को यज्ञों द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति को चाहते हैं । वे लोग अपने उन पुण्यकर्मो के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त करके वहाँ देवताओं के दिव्य भोगें को भोगते हैं ।

**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,**
**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।**
**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः,**
**गतागतं कामकामा लभन्ते ।।**

**(गीता ६/२१)**

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर और पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक में ही प्रवेश करते हैं । इस प्रकार तीनों वेदों में बताये हुए स्वर्ग के साधनरूप सकाम कर्मो का आश्रय लिये

हुए, भोगों की कामना वाले मनुष्य बार-बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं । अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं।

योग का स्थान कर्मकाण्ड से बहुत ऊँचा है । गीता में कहा गया है -

**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।**

योग का जिज्ञासु अर्थात् योग में श्रद्धा रखता हुआ उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करने वाला एक साधारण सा योग साधक भी कर्मकाण्ड से प्राप्त होने वाले इस लोक और परलोक के भोगजनित सुखों को पार कर जाता है । कर्मकाण्ड के समस्त फल उसे अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु वह उसकी आकांक्षा नहीं रखता । वह इन अनित्य सुखों की उपेक्षा करता हुआ सच्चिदानन्द परमेश्वर की प्राप्तिस्वरूप स्थायी सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है । मरणोपरान्त उसे भी उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है और वह दीर्घकाल तक स्वर्गादि उत्तम लोकों में वास करके फिर इस मनुष्य लोक में पवित्र धनवानों अथवा योगियों के कुल में जन्म लेता है और उसे जन्म से ही योग में रूचि होती है । निरन्तर अभ्यास करता हुआ वह कुछ काल में ही यौगिक ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है और आनन्द के असीम सिन्धु परमेश्वर को पाकर आनन्द में ही निमग्न हो जाता है तथा कर्मबन्धन क्षीण हो जाने से वह आवागमन के चक्र से सदा-सदा के लिये छूट जाता है ।

उपनिषदों में योग को ही मोक्ष का एकमात्र साधन बताया गया है । योगशिखोपनिषद् में कहा गया है-

**ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।**
**विना योगेन देहेन न मोक्षं लभते विधे ।।**

मनुष्य चाहे ज्ञानी हो, विरक्त हो, धर्मात्मा हो या जितेन्द्रिय हो किन्तु योग के बिना उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ।

योगतत्त्वोपनिषद् का कथन है कि कैवल्यरूपी परमपद योग से भिन्न अन्यान्य मार्गो का आश्रय लेने से प्राप्त नहीं हो सकता । कोरे शास्त्रज्ञान से भी परमात्मतत्त्व को नहीं जाना जा सकता । अतः मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखने वाले) को योगनिष्ठ होकर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि परमार्थ के पथिक को योगप्राप्ति के निमित्त ही ज्ञानार्जन करना चाहिये, उसी में ही उलझे नहीं रहना चाहिये । जैसे : -

**उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तं त्येजत् ।**
**ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ।।**

जिस प्रकार किसी अन्धेरे कमरे में रखी हुई वस्तु को मनुष्य हाथ में टार्च लेकर उसके प्रकाश की सहायता से ढूढंता है और जब उसे वान्छित वस्तु मिल जाती है, तब वह टार्च को एक ओर रख देता है । फिर उसे उसकी अपेक्षा नहीं रहती । इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरूष को चाहिये कि वह ज्ञान द्वारा जानने योग्य तत्व परमेश्वर का साक्षात्कार करके फिर ज्ञान को भी छोड़ दे ।

इस प्रकार ज्ञान भी योगारूढ़ता का साधनमात्र है, साध्य नहीं ।

कर्मकाण्ड में क्रिया की प्रधानता रहती है तथा सभी कर्म इस लोक और परलोक के सुखों की कामना लेकर संकल्पपूर्वक किये जाते हैं । अतः संकल्प के अनुरूप ही वे फल के दाता होते हैं । इस प्रकार कर्मकाण्ड का मार्ग प्रवृत्तिमार्ग है । यह मार्ग मनुष्य के परमकल्याण का साधन नहीं है । यहाँ पाठकों के मन में यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि यदि कर्मकाण्ड परमार्थ का साधन नहीं है तो वेदों में एवं धर्मशास्त्र में इसका विधान क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर है - हमारे अनुभवी ऋषियों ने जन्म-जन्मान्तर से भटके हुए जीव को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने तथा उसे मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्षद्वार पर पहुँचाने के लिये अधिकारी भेद से विविध साधन बताये हैं उनमें कर्मकाण्ड भी एक सहायक साधन है । यद्यपि मोक्ष का साधन योगमार्ग ही है किन्तु बिना पुण्य के पहले तो योगमार्ग हर व्यक्ति को मिला ही नहीं करता और यदि मिल भी गया तो इस मार्ग में उसकी प्रगति भी उसके पुण्यों पर निर्भर करती है । विरले सौभग्यशाली पुण्यात्मा ही अपने पूर्वार्जित पुण्यों के फलस्वरूप इस मार्ग के अनुगामी बना करते हैं । आम लोगों की तो इस मार्ग में प्रवृत्ति होती नहीं । जबकि संसार के प्रत्यक्ष सुखों तथा स्वर्गादि लोकों के सुखों के प्रलाभन से जनसाधारण स्वाभाविक ही कर्मकाण्ड के मार्ग को अपना लेता है ।

जिस प्रकार माता अपने बालक को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिये उसे कई प्रकार के प्रलोभन देती रहती है और उसे प्रगति के पथ पर आरूढ़ करा देती है । इसी प्रकार वेदों और धर्मशास्त्र में विधान किये गये कर्मकाण्ड का भी यही उद्देश्य है कि लोग मनमाने आचरण से हटकर मर्यादा का पालन

करते हुए पूर्ण सदाचारी बन जायें और आत्मकल्याण के मार्ग में लग जायें ।

इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड भी अष्टाङ्ग.योग का एक बहिरंग साधन है । जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये योग के बहिरंग अंग हैं, उसी प्रकार कर्मकाण्ड को भी योग का एक बहिरंग अंग कहा जा सकता है । क्योंकि कर्मकाण्ड में शौच, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का तथा आसन और प्राणायाम का पूरा-पूरा विधान किया गया है ।

कर्मकाण्ड में शौच(शुचिता) पर विशेष बल दिया जाता है। योगशास्त्र के मतानुसार इस नियम का दृढतापूर्वक पालन करने से साधक की अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि होकर उसमें भी उसकी आसक्ति नहीं रह जाती और वह सांसारिक लोगों का संग नहीं चाहता । इस प्रकार वैराग्य के भाव पुष्ट हो जाने से वह समाधि में प्रवेश कर जाता है ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को योगदर्शन में क्रिया-योग के नाम से वर्णित किया गया है और उस क्रियायोग को अविद्यादि क्लेशों को दूर करने तथा समाधिसिद्धि का सरलतम साधन बताया गया है । ''द्वन्द्व सहनं तप :'' इस परिभाषा के अनुसार सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़े को सहन करना 'तप' कहलाता है । कर्म-काण्ड मे विधान किये गये कृच्छाचान्द्रायण आदि कष्टसाध्य व्रत तथा अन्यान्य सैकड़ों प्रकार के व्रत-उपवासादि, ग्रीष्मकाल में पंचाग्नि का सेवन, काष्ठ मौन, आकार मौन, तीर्थाटन आदि क्रियायें उत्कृष्ट तप की परिचायक है । इसी प्रकार आत्मस्वरूप का बोध कराने वाले सद्ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन तथा मन्त्रों का जाप ''स्वाध्याय'' कहलाता है । कर्मकाण्ड में

मन्त्रों का जप एवं पुरश्चरण तथा वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण एवं पुराणों के अध्ययन एवं पारायण का पूरा-पूरा विधान किया गया है । अतः स्वाध्याय को कर्मकाण्ड का एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है ।

इस प्रकार कर्मकाण्ड का मार्ग भी एक योगपरक मार्ग है । किन्तु साधक की प्रगति उसकी श्रद्धा और भावना पर निर्भर करती है । कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने आपको कर्मकाण्ड तक ही सीमित न रखे, उसके आगे निकलने की चेष्टा करे । क्योंकि आत्मोत्थान का साधन योग ही है । जैसे :-

**वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव**
**दानेषु यत्पुण्यफलप्रदिष्टम् ।**
**अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,**
**योगी परमस्थानमुपैति चाद्यम् ।।**
**(गीता ८/२८)**

अर्थात् वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दोनों में जो-जो पुण्यफल कहे गये है योगी उन सभी पुण्यफलों से आगे निकलकर आदि स्थान परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ।

शिवसंहिता में भगवान् सदाशिव का पवित्र आदेश है :-

**कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ।**
**पुण्यपापमयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डं प्रवर्तते ।।**
**आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्य इति यच्छ्रुतिः ।**
**सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ।।**

कर्मकाण्ड के माहात्म्य को जानकर योगी को चाहिये कि

वह पुण्य और पाप दोनों को तृणवत् समझता हुआ कर्मकाण्ड का झमेला ही छोड़ दे और सदा ज्ञानकाण्ड में तत्पर रहे ।

वेदों में जो यह कहा गया है कि आत्मा को सुनो, आत्मा को मनन करो । अर्थात् जो कुछ है वह आत्मा ही है । यह वेद वाक्य मुक्ति का दाता है, इसी का यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

योगसाधक के लिये कर्मकाण्ड का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । मैत्रेयी उपनिषद् में यहाँ तक कहा गया है :-

**पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जन्मभोगकारी मुमुक्षोः ।**
**तस्माद्यतिः स्वहृदयमार्जनमेव कुर्याद्बाह्यार्चन परिहरेदपुनर्भवाय ।।**

पत्थर, लोहा, मणि अथवा मिट्टी द्वारा निर्मित देवप्रतिमाओं की पूजा मोक्ष के अभिलाषी के लिये पुनर्जन्म और भोगप्राप्ति का कारण बन जाती है । इसलिये फिर से जन्म न लेना पड़े, इस उद्देश्य से योगी को चाहिये कि वह ऐसी बाहर की पूजा त्यागकर अपने हृदय में ही परमेश्वर का पूजन करे । अर्थात् ध्यानाभ्यासपरायण बना रहे ।

(अध्याय - १४)

# योगमार्ग एवं सद्गुरू सत्ता

सभी प्रकार की विद्यायें गुरू के माध्यम से ही प्राप्त की जाती हैं । बिना गुरू के मनुष्य किसी भी विद्या में पारंगत नहीं हो सकता, अक्षराम्भ से लेकर गणित, विज्ञान, शिल्प, संगीत, सर्जरी, यान्त्रकी आदि सभी विद्यायें अनुभवी आचार्य ही सिखाते हैं, किन्तु योग मार्ग तो है ही गुरूगम्य । अत: इस मार्ग में गुरू की विशेष आवश्यकता रहती है । बिना गुरू के हम इस मार्ग में तो एक कदम भी नहीं चल सकते । हम बाहरी संसार के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं किन्तु अपने बारे में हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं होती कि हम कौन हैं, क्या हैं और क्या बन सकते हैं ? अपने गुणदोषों का, मनोभूमि का, आत्मिक स्तर का एवं प्रगति का हमें स्वयं पता नहीं चल सकता । अन्तर्द्रष्टा अनुभवी गुरूदेव ही इस बात को जानते हैं कि साधक का आत्मिक स्तर क्या है तथा किस प्रकार से उसका कल्याण हो सकता है । इन बातों पर विचार करते हुए तथा उसके पूर्व जन्म के संस्कारों को देखकर वे उसके लिये वही मार्ग बताते हैं जिस पर वह आसानी से चलता हुआ परम कल्याण का भागी बन सके ।

यहां यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि योगी गुरू त्रिकालदर्शी हुआ करते हैं । वे अपने शिष्य के वर्तमान जन्म के बारे में ही नहीं अपितु उसके पूर्व के और आगे होने वाले सैकड़ों जन्मों के बारे में अपनी योग शक्ति से सब कुछ जान लिया करते हैं । इसलिये योगमार्ग के पथिक के लिये अनुभवी गुरू का मार्गदर्शन नितान्त आवश्यक है । उसी के सहारे अध्यात्मिक जगत की यात्रा सुविधापूर्वक होती है । अन्यथा बिना गुरू के योग मार्ग पर चलना तलवार की तेज धार पर चलने के समान कठिन है ।

कठोपनिषद का वचन है :-

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।**

**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।।**

अर्थात अरे मनुष्यो ! तुम लोग जन्म-जन्मान्तर से अज्ञानरूपी निद्रा में सोये हुये हो, अब भी समय है । उठो, जागो और महापुरूषों की शरण में जाकर उनके उपदेश द्वारा अपने कल्याण का मार्ग और परमात्मा का रहस्य समझ लो । आत्मतत्व बड़ा गहन है, उसकी प्राप्ति का मार्ग तलवार की तेज धार पर चलने के समान है । ऐसे दुस्तर मार्ग से सुगमता पूर्वक पार होने का उपाय वे अनुभवी महापुरूष ही बता सकते हैं जो उस मार्ग को स्वयं पार कर चुके हैं ।

सद्गुरू की रहस्यमयी सत्ता से परिचित न होने के कारण अधिकांश लोगों के मनों में गुरू के प्रति तरह तरह की भ्रन्तियाँ रहा करती हैं वे उन्हें अपने जैसा एक मरणधर्मा सांसारिक मनुष्य समझते हैं । जिस कारण बहुत से दीक्षित साधक भी अपने गुरूदेव में पूर्ण श्रद्धा नहीं रखते । श्रद्धा में कमी होने पर पूर्ण शरणागति नहीं हो पाती । जिससे वे सद्गुरू की कृपाओं से वंचित रह जाते हैं । उनके लिये गीता में जगद्गुरू श्रीकृष्ण की यह चेतावनी है :-

**अवजानन्ति मां मूढ़ाः मानुषींतनुमाश्रितम् ।**
**परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम् ।।**

मेरी सर्वव्यापकता एवं सर्व-शक्तिमत्ता रूप परम भाव को न जानने वाले अज्ञानी लोग सम्पूर्ण प्राणियों के महान ईश्वर तथा संसार के उद्धार के लिये अपनी योगमाया से मनुष्य रूप में विचरण करते हुए मुझ परमेश्वर को अपने जैसा एक साधारण मनुष्य समझते हैं ।

श्री कृष्ण का बालसखा एवं परम भक्त अर्जुन तक उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सका था । बाद में योगेश्वर श्री कृष्ण के दिव्य योगोपदेश से प्रभावित होकर जब उसने उन्हें परमेश्वर रूप में देखना चाहा तो श्री कृष्ण उसे सावधान करते हुए कहते हैं :-

**न नु मां शवयसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।**
**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।**

अरे अर्जुन ! तू मुझे अपनी इन आंखों से नहीं देख सकता । अत: मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ । इससे तू मेरे योगैश्वर्य को देख ।

इस प्रकार उनके द्वारा कृपापूर्वक दिव्यदृष्टि दिये जाने पर अर्जुन उनके विराट रूप के दर्शन करने में समर्थ होता है ।

इसी प्रकार गुरूदेव भी मनुष्य शरीर में विचरण किया करते हैं, किन्तु सांसारिक व्यक्ति अपनी भौतिक इन्द्रियों से उन्हें तब तक नहीं जान पाता जब तक वे स्वयं ही कृपापूर्वक उसे अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन न करा दें । सर्व शक्तिमान परमेश्वर की अचिन्त्य परम सत्ता (सद्गुरू सत्ता) एक समय में भी अनेक शरीरों में न्यूनाधिक रूप से व्यापक रहा करती है । विविध शरीरधारी होने पर भी तत्वत: वे सब एक ही होते हैं । उनमें कोई भेद नहीं होता ।

सद्गुरू दया के सागर होते हैं । उसके लिये कोई अपना या पराया नहीं होता। चाहे कोई उन्हें भजे या न भजे । साधक यदि सुपात्र हो तो उनकी कृपा वृष्टि होते देर नहीं लगती । जो साधक अनन्य भाव से उनकी भक्ति करते हैं उन्हें वे अपना स्वरूप ही समझते हैं और उनको अपने में ही मिला देते हैं । योगेश्वर श्री कृष्ण ने गुरूदेव के इस उदार स्वभाव का निम्नलिखित श्लोक में संकेत किया है :-

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।**
**ये भजन्ति तु मां भवन्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।**

अर्थात्-मैं समस्त प्राणियों में समान भाव से रहता हूँ । न मैं किसी से द्वेष रखता हूँ और न ही किसी से विशेष प्रेम ही करता हूँ किन्तु जो पुण्यात्मा नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं वे मुझमें वास करते हैं और मैं उन में वास करता हूँ ।

गुरुदेव स्वयं में ही एक रहस्य हैं । अत: उनकी प्रत्येक लीला एवं वचनामृत में गूढ़ रहस्य छिपा रहता है । अत: उनकी पवित्र आज्ञाओं के पालन में सदैव तत्पर रहना चाहिये । शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन और बुद्धि को गुरुदेव को समर्पित करके सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर निष्काम भाव से एवं निरभिमान होकर उनकी प्रसन्नता के लिये उनके आदेशानुसार सदैव अपनी साधना

में लगा रहे । उसे अपनी साधना का एवं गुरुभक्ति का लेशमात्र भी अहंकार नहीं होना चाहिये तथा दूसरे साधकों एवं गुरुभाइयों को अपने गुरुदेव का ही अंश समझ कर उनके प्रति आत्मीयता का भाव रखना चाहिये ।

गुरुतत्व अत्यन्त गहन है । उसे समझना और समझाना बहुत कठिन है। फिर भी आत्मदर्शी महापुरुषों के निर्णयात्मक सिद्धान्तों के अनुसार इस विषय को स्पष्टीकरण के साथ समझाने का प्रयास किया जा रहा है :-

वेदों में ''ओंकार'' नाम से और ''परब्रह्म'' नाम से जिस परात्परसत्ता का वर्णन किया गया है वही सत्ता ''सदगुरू सत्ता'' है । उसी सत्ता का महिमागान कठोपनिषद के इस मन्त्र में किया गया है :-

**भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।**
**भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।।**

सकल ब्रह्मण्डों पर शासन करने वाले परब्रह्म परमेश्वर के भय से ही अग्नि तपता है, उन्हीं के भय से सूर्य तपकर संसार को ऊर्जा और प्रकाश दे रहा है । उन्ही के भय से इन्द्र, वायु और यमराज ये सब देवता दौड़- दौड़ कर अपना-अपना काम अत्यन्त सावधानी पूर्वक कर रहे हैं ।

जब वही परा सत्ता किसी मनुष्य में वास करने लग जाती हैं तो वह मनुष्य गुरुपद को पा जाता है और सब का पूज्य बन जाता है । सद्गुरु का समस्त योग-ऐश्वर्य उसके अन्दर प्रकट हो जाता है और रिद्धि-सिद्धियां उसके आदेश की प्रतीक्षा में खड़ी रहती है । उसके रोम रोम में सद्गुरु का प्रकाश हो जाता है । वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश के समान ''कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुम्'' की सामर्थ्य वाला बन जाता है तथा महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती स्वरूपा कुण्डलिनी महाशक्ति उस योगी गुरू के नियन्त्रण में रहना स्वीकार कर लेती हैं । प्रकृति पूरी तरह उस के वश में रहती है किन्तु प्रकृति के कार्य में वह कभी वाधा नहीं डालता । प्रकृति के नियमानुसार समय आने पर वह अपनी नर लीला को समेट लेता है । तब शरीर न रहने पर भी वह अपने भक्तों एवं संस्कारी जीवों का पहले की तरह ही कल्याण करता रहता है। आवश्यकता पड़ने पर वह समय-समय पर साकार रूप में प्रकट होकर उनकी

सहायता करता रहता है । वैसे भी योगी गुरू के लिये भौतिक शरीर और इन्द्रियां कोई महत्व नहीं रखती । वह बिना शरीर और इन्द्रियों के भी पुण्यात्माओं के कल्याणार्थ बड़े-बड़े चमत्कार पूर्ण कार्य करता रहता है । जैसे राम चरित मानस में कहा गया है :-

**विनु पग चलै सुने विनु काना ।**
**कर विनु कर्म करै विधि नाना ।।**
**आनन रहित सकल रस भोगी ।**
**विनु वाणी वक्ता बड़ जोगी ।।**

क्लेश, कर्म, विपाक आदि बन्धनों से मुक्त तथा ज्ञान विज्ञान वृप्तात्मा होकर परम सिद्धावस्था को प्राप्त हुए योगी महापुरूषों के अन्दर ही वह परात्पर सत्ता वास किया करती है और वे ही सद्गुरू कहलाते हैं ।

उन सिद्ध योगियों की भी चार श्रेणियाँ होती हैं :

**अनादि महासिद्ध, स्वतः सिद्ध, साधन सिद्ध और कृपासिद्ध ।**

इन चारों प्रकारों के सिद्धों के अन्दर न्यूनाधिक रूप से सद्गुरू सत्ता प्रकाशित हुआ करती है । शरीरों में पृथकता होने पर भी ये सब तत्वतः एक ही होते है । इन सबके अन्दर परमगुरू परमेश्वर का योग-ऐश्वर्य ही चमकता दिखाई देता है, उसी की शक्ति से ये सब शक्तिमान बने रहते हैं और गुरूपद का गौरव प्राप्त किया करते हैं । ये महापुरूष परम गुरू परमेश्वर के सच्चे प्रतिनिधि होते है और उसकी आज्ञा से ही जनकल्याण के कार्य में प्रवृत्त होते हैं । गुरूपद को प्राप्त हुए महापुरूष समस्त सद्गुणों के भण्डार, कृपा के समुद्र और प्राणी मात्र के परम हितैषी होते हैं । उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वे अपने सम्पर्क में आने वाले भक्तजनों को अपने समान ही बना डालने की सामर्थ्य रखते हैं । जैसे कहा गया है:-

**पारस में और सन्त में बहुत अन्तरों जान ।**
**वह लोहा कंचन करे, वह करे आपु समान ।।**

संसार में पारस मणि को सबसे दुर्लभ और मूल्यवान समझा जाता है । पारस अपने स्पर्श

मात्र से लोहे को सोना बना देता है पर वह उसे पारस नहीं बना सकता । जब कि गुरूदेव अपने स्पर्श से, दृष्टिपात से या संकल्प से अपने प्रिय शिष्यों को अपने जैसा ही बना देते हैं ।

गुरू का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है । इस सम्बन्ध में अनुभवी सन्तों का कथन है:

**हरि सो तू जनि हेत कर, कर हरिजन सो हेत ।**
**माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत ।।**

अर्थात् तुम ईश्वर से भले ही प्रेम न करो किन्तु उसके भक्त सद्गुरूओं से अवश्य प्रेम करो । क्योंकि ईश्वर तो हमें नाशवान सांसारिक पदार्थो को (धन, पद, प्रतिष्ठा, आरोग्य, लौकिक विद्यायें, स्त्री, पुत्र आदि को) तथा उनसे प्राप्त होने वाले भोगों को ही देता है । किन्तु करूणासागर श्री गुरूदेव दयार्द्र होकर अथवा अपने प्रिय शिष्यों के विशिष्ट गुणों से रीझ कर उन्हें ईश्वर से मिला देते हैं और उन्हें अपना सर्वस्व (ईश्वर) ही दे डालते हैं ।

एक अन्य सन्त ने ये ही भाव निम्नलिखित दोहे में व्यक्त किये हैं :-

**गुरू गोविन्द दोउ खड़े काके लागूँ पाय ।**
**बलिहारी गुरू आपणे जिन गोविन्द दियो मिलाय ।।**

पुराणों एवं उपनिषदों में गुरूतत्व और गुरूभक्ति महिमा का स्थान स्थान पर वर्णन मिलता है । पद्मपुराण से उद्धृत श्री गुरू गीता में गुरू महिमा पर विशेष प्रकाश डाला गया है । जैसे :-

**गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः ।**
**गुरूरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरवै नमः ।।**

गुरू ही ब्रह्मा है, गुरू ही विष्णु हैं, गुरू ही भगवान शिव है तथा गुरू ही परब्रह्म परमात्मा हैं उन श्री गुरूदेव को नमस्कार है ।

**गुरोः कृपा प्रसादेन ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः ।**
**सामर्थ्यं तत्प्रसादेन केवलं गुरूसेवया ।।**

सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता और संहर्ता ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी सद्गुरू की आराधना किया करते हैं । सेवा के फलस्वरूप ही सद्गुरू कृपा पाकर वे सामर्थ्यवान और तेजस्वी हैं । उनके अन्दर सद्गुरू का वास होने से ही वे सब के पूज्य और सर्व समर्थ बने हुये हैं ।

**गुरूर्देवो गुरूर्धर्मः गुरूनिष्ठा परं तपः ।**
**गुरोः परतरं नास्ति सत्यं सत्यं वरानने ।।**

भगवान शंकर पार्वती जी से कह रहे हैं गुरू ही सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, गुरू भक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है, गुरूनिष्ठा ही सबसे बड़ी तपस्या है । हे सुन्दर मुख वाली पार्वती! यह बात सत्य है, सत्य है और सत्य है ।

अतः शिष्य का कर्त्तव्य है कि-

**गुरूमूर्त्तिं स्मरेन्नित्यं गुरोर्नाम सदा जपेत् ।**
**गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत गुरोरन्यं न भावयेत् ।।**

साधक को गुरूमूर्ति का सदैव हर परिस्थिति में स्मरण करते रहना चाहिये और गुरू मन्त्र का सदा सर्वदा जप करते रहना चाहिये । उसे गुरूदेव की पवित्र आज्ञाओं का बड़ी श्रद्धा और तत्परतापूर्वक पालन करना चाहिये । उसके लिये यही उचित है कि उसका मन गुरूभक्ति के पवित्र भावों से ही सदा परिपूरित रहे, क्योंकि :-

**ज्ञान विज्ञान मुक्तिश्च लभ्यते गुरूभक्तितः ।**

**गुरो समन्ततो नान्यत् साध्योऽसौ गुरूमार्गिणा ।।**

गुरू की भक्ति से ज्ञान, विज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है **इसलिये गुरूमार्ग पर चलने वाले पुण्यात्मा साधक के लिये गुरू ही एकमात्र साध्य है, गुरू भक्ति ही उसकी साधना है और गुरू की प्रसन्नता ही उसकी सिद्धि है ।**

योगमार्ग के पथिक को अपने गुरूदेव में ईश्वरबुद्धि रखनी चाहिये और प्रगाढ़

श्रद्धा और अटल विश्वास रखते हुये अनन्य भक्तिभाव से गुरूदेव की आराधना करनी चाहिये ।

शिव पुराण की कैलाश संहिता में स्वयं भगवान शिव ने यह आदेश दिया है: -

**यथागुरूः तथैवेशो यथावेशस्तथा गुरूः ।**

**पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ।।**

अर्थात जैसा वास्तविक रूप गुरू का है वही परमेश्वर का भी है, जो परमेश्वर है वही गुरू भी है । इसलिये गुरूदेव का भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये । ईश्वर तत्व और गुरूतत्व ये दोनों एक ही हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है ।

उपनिषदों के रचयिता प्रातः स्मरणीय योगाचार्य महानुभावों ने अपने अनुभव के आधार पर आत्मोत्थान का जो पवित्र योगमार्ग अपने उपनिषदों में प्रशस्त किया है उसमें सद्गुरू शरणागति का विशेष महत्व बताया गया है । जैसे :-

**श्रद्धालुर्मुक्ति मार्गेषु वेदान्त ज्ञान लिप्सया ।**

**ईपायन करोभूत्वा गुरूं ब्रह्मविदं व्रजेत ।।**

**सेवाभिः परितोष्येनं चिरकाल समाहितः ।**

**सदा वेदान्त वाक्यार्थं श्रृणुयात्सुसमाहितः ।।**

**(नारद परिव्रजकोपनिषद)**

मुक्ति मार्ग में श्रद्धा रखने वाले साधक को चाहिये कि वह वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ हाथ में समिधा लेकर किसी अन्तर्द्रष्टा गुरू की शरण में जाये और चिरकाल तक उनकी सेवा करे तथा एकाग्रचित्त होकर उनसे वेदान्त वाक्यों को सुने व समझे ।

(नारदपरिव्राजकोपनिषद)

**तद्विज्ञानार्थं सः गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियंब्रह्मनिष्ठम् ।**

जिज्ञासु को चाहिये कि वह परमेश्वर का वास्तविक तत्व ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विश्वास के साथ किसी ऐसे सद्गुरू की शरण में जाये जो वेदों के रहस्य को भलीभाँति जानते हों और परमात्मा में स्थित हों ।

(मुण्डकोपानिषद)

जिज्ञासु तथा मुमुक्षु साधक को सदैव सन्तों की सेवा में लगा रहना चाहिये। अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर देना चाहिये । गुरू से बढकर अन्य कुछ भी नहीं है। जिसके द्वारा यह सारा संसार जाना जाता है उन श्री गुरूदेव से बढ़कर दूसरा और कौन हो सकता है ? इस तथ्य को भलीभाँति समझकर जीव निश्चित ही मुक्त हो जाता है ।

(स्वसंवेद्योपनिषद)

जहां गुरू है वहां शिव है । गुरू और शिवस्वरूप ही वह परमेश्वर है। भ्रमरकीट सिद्धान्त के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि भृंगी नामक कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब उन्हें बन्द कर देता है तब वे कीड़े भय के कारण निरन्तर उस भृंगी का ध्यान करते रहने से भृंगी जैसे ही बन जाते हैं । ठीक इसी प्रकार शिवस्वरूप गुरूदेव का ध्यान करने से साधक मुक्त हो जाते हैं । शिवलिंग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । इसी प्रकार गुरू का अभिषेक करने से तथा चरणामृत का पान करने से अनेक जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं । गुरू में प्रेम रखना ही शिव से प्रेम करना है । गुरू के समीप रहना ही परम पवित्र वास है । अतः शिव की शरण लेनी चाहिये, गुरू की शरण लेनी चाहिये ।

(रूद्रोनिषद)

गुरू जो भी आदेश दें उसका पालन शिष्य को बिना सोचे बिचारे अत्यन्त सन्तोष पूर्वक करना चाहिये । वेदों में कहा गया है कि गुरू ही साक्षात् हरि है । यह विद्या उसी को देनी चाहिये जो गुरू का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्ति परायण रहे

अन्य किसी को नहीं देनी चाहिये, यदि कोई देता है तो वह नरकगामी बनता है और लेने वाले को भी किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती ।

(ब्रह्मविद्या उपनिषद)

जो शिक्षा प्राप्त करके भी अपने गुरू का आदर नहीं करते हैं उनके अन्न को कल्याणकामी व्यक्ति कभी ग्रहण नहीं करते हैं । न गुरू और न सन्त ही उस अन्न को खाते हैं ।

गुरू ही परम धर्म है, गुरू ही परम गति है । एकाक्षर के ज्ञानदाता गुरू का जो सम्मान नहीं करता उसकी विद्या, उसकी सारी तपस्या और ज्ञान धीरे धीरे क्षीण होकर ऐसे समाप्त हो जाता है जैसे कच्चे घड़े में जल समाप्त हो जाता है ।

(शाटनीय - उपनिषद)

गुरूदेव का वास्तविक स्वरूप क्या है ? उनके बाह्य लक्षण क्या है तथा गुरूनिष्ठ साधक अपनी गुरूभक्ति के बल पर किस प्रकार अपने सभी मनोरथों को सिद्ध करता हुआ परम कल्याण का भागी बन जाता है । यह बात अद्वयतारकोपनिषद में बड़े स्पष्टीकरण के साथ समझाई गई है । जैसे :-

**आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।**
**योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मको शुचिः ।।**
**गुरूभक्ति समायुक्तः पुरूषज्ञो विशेषतः ।**
**एवं लक्षण सम्पन्नो गुरूरित्यमिधीयते ।।**

जो वेदों के तत्व को समझने वाला और समझाने वाला सुयोग्य आचार्य हो, ईश्वर भक्त हो, किसी से ईर्ष्या न रखता हो, योग का ज्ञाता हो, योग में प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाला हो, योगात्मा हो, सदा पवित्र रहने वाला हो, परम गुरू भक्त हो तथा परमात्मा में विशेष रूप में लय रहने वाला हो इन सभी लक्षणों से युक्त महापुरूष को गुरू कहा जाता है ।

(अद्वयतारकोपानिषद)

गुरूकृपा ही योगसिद्धि का प्रमुख साधन है । यह स्पष्ट करते हुए महोपनिषद में कहा गया है :-

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करूणां विना ।।

सद्गुरू की कृपा के बिना सांसारिक विषय भोगों का त्याग करना संभव नहीं हैं । इसी प्रकार तत्वज्ञान की प्राप्ति भी दुर्लभ है तथा सहजावस्था को प्राप्त करना और भी अधिक कठिन है । अर्थात ये तीनों चीजें केवल गुरू कृपा से ही प्राप्त हुआ करती हैं ।

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरूवक्त्र समुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निवीर्याप्यतिदुःखदा ।।

गुरूं सन्तोष्य यत्नेन ये वैविद्यामुपासते ।
अवलम्वेन विद्यायाः तस्याः फलमवाप्नुयुः ।।

गुरूः पिता गुरूर्माता गुरूर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वे प्रसेव्यते ।।

गुरू प्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात्सेव्यो गुरूर्नित्यं नान्यथा शुभमाप्यते ।।

न भवेत्संगयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि ।
गुरूपूजाविहीनानां तथा च बहु संगिनाम ।।

मिथ्यावाद रतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम ।
गुरू सन्तोष हीनानां न सिद्धि स्यात्कदाचन ।।

गुरूदेव के मुखारविन्द से निकली हुई विद्या ही वीर्यवती (फलवती) हुआ करती है । अन्यथा गुरू के उपदेश के बिना किया गया योगाभ्यास निष्फल चला जाता है । उससे शिष्य के अन्दर शक्ति का विकास नहीं होता और उसकी वह साधना अत्यन्त कष्टप्रद भी होती है । जो साधक भक्तिपूर्वक गुरूदेव की सेवा एवं

उनके आज्ञापालन से उन्हें सन्तुष्ट करके योगविद्या के अभ्यास में उत्साह पूर्वक लगे रहते हैं वे शीघ्र ही फल प्राप्त कर लेते हैं । गुरू ही पिता है गुरू ही माता है और गुरू ही देवता है। इसलिये मन से कर्म से और वाणी से गुरू की सेवा करनी चाहिये। उनकी सेवा से सबकी ही सेवा हो जाती है । गुरू कृपा से साधक का सब प्रकार से कल्याण हो जाता है ।

संसार में आसक्ति रखने वाले ईश्वर, शास्त्र और सन्त महापुरूषों में विश्वास न रखने वाले, गुरू पूजा न करने वाले विविध मत मतान्तरों में, औपचारिकताओं और जन समुदाय में रूचि रखने वाले, व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़े रहने वाले, कठोर वाणी बोलने वाले तथा गुरूदेव को सन्तुष्ट न करने वाले लोगों को योग मार्ग में कभी भी सफलता नहीं मिलती ।

**योग मार्ग ही परम कल्याण का मार्ग है । यह मार्ग अपने असली स्वरूप को जानने का मार्ग है, अखिल ब्रह्मण्डों के संचालक सर्वव्यापक परब्रह्म परमेश्वर को जानने का मार्ग है और सब प्रकार से शक्तिसम्पन्न बननें का मार्ग है ।** अत: कल्याणकामी व्यक्ति को गुरू का अवलम्बन लेकर इस पवित्र योग मार्ग को अपनाना चाहिये । योगमय जीवन बना लेना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा पुरूषार्थ है । **योग विद्या एक ऐसी अमर निधि है जिसे पाकर और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । योगशास्त्र में कहा गया है :-**

**नास्ति योगात्परं बलम ।**

योग से बढ़कर ऐश्वर्य और कुछ भी नहीं है ।

तथा

**नास्ति तत्वं गुरो : परम ।।**

अर्थात-गुरू से श्रेष्ठ और कोई तत्व नहीं है ।

(अध्याय १५)

# नाड़ीशुद्धि एवम् कुण्डलिनी जागरण

(कुण्डलिनी योग)

मानव शरीर में स्थूल और सूक्ष्म बहत्तर हजार नाडियां हैं । इन नाड़ियों पर ही यह शरीर रूपी यन्त्र टिका हुआ है तथा इसके सभी अंग सक्रिय हैं । शरीर के सभी अंगों में रुधिर संचार तथा मलमूत्र विसर्जन से लेकर प्राणवायु का संचार तक सभी क्रियायें इन नाड़ियों द्वारा होती है । इनमें चौदह नाड़ियां प्रमुख हैं, जिनका सम्बन्ध कुण्डलिनी महाशक्ति के साथ है ।

कुण्डलिनी सारे संसार की आधारभूता तथा मानव शरीर में स्थित जीवन अग्नि है । शास्त्रों में इसे ब्राह्मी शक्ति कहा गया है । यह शक्ति ही जीव के बन्ध न एवं मोक्ष का कारण है । कुण्डलिनी का स्वरूप क्या है ? तथा यह किस प्रकार जीव को मोक्ष प्रदान करती है । इस बात की जानकारी के लिये नाड़ी विज्ञान को जान लेना आवश्यक है । उपनिषदों में इस विषय को सविस्तार समझाया गया है । शाण्डिल्योपनिष्द् में शाण्डल्य जी महाराज महर्षि अथर्वा से शरीरविज्ञान पर जिज्ञासा प्रकट करते हुए निवेदन करते हैं :-

केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः । नाड्यः कतिसंख्याताः । तासामुत्पत्तिः कीदृशी । तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि । देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहि ।

अर्थात् किस उपाय से नाड़ियां शुद्ध होती हैं उनकी संख्या कितनी है, उनकी उत्पति किस प्रकार हुई, उनमें कितने वायु रहते हैं और उनका काम क्या है ? इस प्रकार शरीर में जो-जो जानने लायक है वह सब मुझे बतलाइये । इस पर महामुनि अथर्वा जी महाराज बताते हैं ।

मनुष्य का शरीर उसकी अंगुलियों से ९६ अंगुल प्रमाण का होता है । शरीर

के मध्य भाग में अग्नि का स्थान है, जो त्रिकोण आकार का और तपाये हुये सोने के समान कान्ति वाला है । गुदा से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे मनुष्य शरीर का मध्य भाग होता है । उसमें नाभि है और उसमें बारह अरे वाला चक्र है । उस चक्र के बीच में पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव ऊपर नीचे फिरता रहता है । कन्द के नीचे ऊपर कुण्डिलनी का स्थान है । उसके चारों ओर चौदह प्रमुख नाड़ियां हैं । जैसे :-

**मध्यस्थकुण्डलीमाश्रित्य मुख्याः नाड्यः चतुर्दश भवन्ति-ईडा, पिंगला, सुषम्ना, सरस्वती, वारूणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा गान्धारीति चतुर्दश नाड्यः भवन्ति । तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते । गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्ध्नपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेया अव्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ।**

अर्थ :-मध्य में कुण्डली का आश्रय लेकर रहने वाली ईड़ा, पिंगला, सुषम्ना, वारूणी, पूषा, हस्तिजिहा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा और गान्धारी ये चौदह प्रमुख नाड़ियां होती हैं ।

इनमें सुषम्ना विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष का मार्गरूप है । यह गुदा के पिछले भाग में रीढ़ की हड्डी के अन्तिम सिरे से आरम्भ होकर मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है । यह अव्यक्त, सूक्ष्म, वैष्णवी शक्ति है ।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कन्दस्थान से निकली हुई सुषुम्नादि दश प्रधान नाड़ियों का वर्णन करते हुये कहा गया है :-

मानवदेह के मध्यभाग में नौ अंगुल प्रमाण का कन्दस्थान है । यह चार अंगुल ऊंचा और चार अंगुल चौड़ा है । कन्द के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है । यह पद्मसूत्र के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधी ऊपर की ओर गई है । ब्रह्मरन्ध की तरफ जाने वाली यह वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान अत्यन्त प्रकाशयुक्त है। इसके अगल-बगल ईड़ा और पिंगला नाड़ियां हैं। ईड़ा नाड़ी कन्दस्थान से निकलकर

बायें नासापुट तक गई है और पिंगला दायें नासापुट तक । गान्धारी और हस्तिजिहा नामक दो अन्य नाड़ियां भी वहाँ स्थित हैं, जो उनके आगे-पीछे बाँयी और दाँयी आँख तक गई हैं । पूषा और यशस्विनी ये दो नाड़ियां गुदा से निकल कर बायें और दायें कान तक गई हैं । अलम्बुसा नामक नाड़ी मेढ्रस्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई है । कौशिकी नामक नाड़ी कन्द से लेकर पैर के अंगूठे तक गई है।

इस प्रकार ये दस नाड़ियाँ कन्द स्थान से निकली हुई कही गई हैं । इनसे निकलने वाली अन्य बहुत सी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियां हैं, जिनकी संख्या बहत्तर हजार है । इन दश नाड़ियों में दश प्रकार के प्राणवायु निरन्तर चलते रहते हैं । उनमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पांच मुख्य हैं । इन पांचों में प्राण और अपान ये दो मुख्य हैं और इन दोनों में भी प्राणवायु ही मुख्य है, जो जीवात्मा को धारण किये रहता है । क्योंकि :-

**प्राणाधिरूढश्चरति जीवस्तेन बिना नहि ।**

जीव प्राण पर सवार होकर ही ऊपर-नीचे भ्रमण करता रहता है उसके बिना नहीं कर सकता ।

प्राणवायु हृदयदेश में रहता है, अपान वायु गुदा भाग में रहता है, समान वायु नाभि मण्डल में रहता है, उदान वायु कण्ठ में रहता है और व्यान वायु सारे शरीर में व्यापक रहता है ।

शरीर में रहने वाले दस प्रकार के वायुओं का कार्य शाण्डिल्योपनिषद् में इस प्रकार बतलाया गया है :-

पेट में रहने वाले जल और अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर उन्हें पृथक्-पृथक् करना प्राणवायु का कार्य है । प्राणवायु आमाशय में स्थित जल-अन्न को अपानवायु की सहायता से पचाता है । इसके अतिरिक्त सांस लेना, उच्छ्वास छोड़ना तथा खांसना आदि क्रिया प्राणवायु ही कराता है ।

शरीर के नौ छिद्रों द्वारा मलों का विसर्जन कराना अपानवायु का कार्य है ।

प्राण और अपान की क्रियायें व्यानवायु के योग से होती हैं ।

उदानवायु प्राण को ऊपर ले जाता है । शरीर का पोषण करना समानवायु का कार्य है ।

पलक झपकना कूर्मवायु की क्रिया तथा भूख - प्यास लगना कृकरवायु का कार्य है । देवदत्तवायु आलस्य और तन्द्रा उत्पन्न करता है । मृत शरीर की शोभा बनाये रखना धनञ्जयवायु का कार्य है ।

इस प्रकार नाड़ी स्थान, वायुस्थान तथा उसके कार्य को भली प्रकार समझकर नाड़ियों का शोधन करना चाहिये ।

नाड़ी शोधन का साधन अष्टाङ्गयोग ही है । त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद का वचन है :-

**यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयतः ।**
**नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत् ।।**

अर्थात् यम, नियम तथा आसनों द्वारा सर्वप्रथम नाड़ियों को शुद्ध कर लेना चाहिये । नाड़ी शुद्धि हो जाने के बाद ही साधक को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।

योग कुण्डली उपनिषद् में कुण्डलिनीजागरण की प्रक्रिया बताते हुये कहा गया है :-

विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से जब अपानवायु ऊपर जाकर बहिमण्डल में मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बढ़ जाती है । उस ज्वाला से संतप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत होती है और डण्डे से मारी जा रही सर्पिणी के समान फुंकार करती हुई सीधी हो जाती है । तब यह सर्पिणी के बिल में प्रवेश करने की रीति से सुषम्ना नाड़ी के अन्दर चली जाती है । इस प्रकार सुषम्ना (ब्रह्मनाड़ी) का मुख खुल जाता है ।

ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्यतः ।
रुद्रग्रन्थिं तु भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।।
सहस्त्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सैवावस्था परा ज्ञेया सैवनिर्वृत्तिकारणा ।।

तब रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेद कर यह कुण्डलिनी शक्ति बिजली के प्रवाह की तरह ऊपर को चढ़ती है और यह बड़ी शीघ्रता से हृदयस्थित विष्णुग्रन्थि को पार करती हुई और भी ऊपर आज्ञाचक्र में पहुंचती है और रुद्रगन्थि को प्राप्त होती है । वहां से वह भूमध्य स्थान को भेदती हुई चन्द्रमा के स्थान पर पहुंचती है। वह चन्द्रमण्डल में जाकर वहां के द्रव पदार्थों का शोषण कर लेती है और उसे उष्ण कर देती है । वह चन्द्रमा के शीतल रस को तप्त कर देती है और क्षुब्ध होती हुई ऊपर चढ़ती है । इस के प्रभाव से चित्त - जो पहले बाहरी पदार्थों में संलग्न रहता था वह अब - परमार्थ में लगकर आत्मानन्द का अनुभव करने लग जाता है । इस प्रकार कुण्डलिनी अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती है और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती है । यही समाधि की सबसे ऊँची भूमिका और मोक्षदायिनी अवस्था है ।

मूलाधार कमल में स्थित यह कुण्डलिनी शक्ति ही आदि शक्ति और आधार शक्ति है । इसे ही वैष्णवी शक्ति, चितिशक्ति, महामाया आदि नामों से पुकारा जाता है ।

मार्कण्डेयपुराण से उद्धृत श्री दुर्गा सप्तशती में इसी पारमेश्वरी शक्ति की महिमा एवं स्तुति में कहा गया है :-

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या,
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्,
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ।।

हे महामाये ! तुम अनन्त शक्तिसम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो, इस संसार की आधारभूता हो और परामाया हो । हे देवि ! तुमने इस समस्त जगत को मोहित कर रखा है । प्रसन्न हो जाने पर तुम ही इस संसार में जीव के मोक्ष का कारण बन जाती हो अर्थात जीवों को कृपापूर्वक मोक्ष प्रदान कर देती हो ।

**इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या ।**
**भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः ।।**
**चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत् ।**
**नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।**

समस्त जीवों के इन्द्रियों की अधिष्ठात्री एवं सब प्राणियों में व्याप्त रहने वाली उस देवी को बारंबार नमस्कार है, जो देवी चित्तिरूप से इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त करके स्थित है, उसे बार-बार प्रणाम है ।

योगशिखोपनिषद् में भी महामाया, महालक्ष्मी आदि नामों से इस महाशक्ति की महिमा बताई गई है :-

**महामाया महालक्ष्मीमहादेवी सरस्वती ।**
**आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते ।।**
**सूक्ष्माभा बिन्दुरूपेणपीठरूपेण वर्तते ।**
**गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते ।।**

यह कुण्डलिनी महाशक्ति ही जीवों को भ्रमित करने वाली महामाया है, यह सबका भरण-पोषण करने वाली महालक्ष्मी है, यह सब की सद्बुद्धिस्वरूपा महादेवी सरस्वती है । यह जगदीश्वर की अव्यक्त माया एवं आधारशक्ति है । यह शक्ति इस संसार की जन्म दात्री एवं संचालक है । मूलाधार के पास कन्दस्थान में बिन्दु रूप से स्थित अत्यन्त सूक्ष्म आभा वाली यह शक्ति कामबीज के रूप में विराजमान रहती है। गुरूमन्त्र के जाप से तथा गुरूदेव के शक्तिपात से यह महाशक्ति कुण्डलिनी बड़ी तीव्रता के साथ जाग्रत होती है एवं प्रकाशमान होती है ।

कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण में नाड़ीशुद्धि का विशेष महत्व है । इसके लिये अष्टाङ्ग योग का अभ्यास करना आवश्यक है । यह मार्ग साधना मार्ग है । गीता में इसे अभ्यास योग कहा गया है । इसके अतिरिक्त कुण्डलिनीजागरण का एक अन्य उपाय भी उपनिषदों में बताया गया है जिसे सिद्धयोग अथवा सिद्धमार्ग कहते हैं । इसमें सिद्धगुरू शक्तिपात दीक्षा द्वारा शरणागत शिष्य पर अपनी शक्ति का संचार करके कुण्डलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर देते हैं, जिससे प्राणायाम, नाड़ीशोधन, षट्चक्रभेदन आदि क्रियायें स्वतः ही सिद्ध हो जाती हैं । अगले अध्याय में इस विषय को अर्थात सिद्धयोग को सविस्तार समझाया जा रहा है ।

(अध्याय १६)

# योगशिखोपनिषद् एवं सिद्धयोग

योगशिखोपनिषद् सभी उपनिषदों का सार है । इसमें जीव के जन्म का कारण और उसके मोक्ष के साधनों का आदियोगी योगीश्वर भववान् श्री सदाशिव द्वारा कृपापूर्वक सविस्तार वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् में योगविद्या के गुप्त रहस्यों को मुमुक्षुजनों के कल्याणार्थ प्रकट कर दिया गया है ।

उपनिषद् का शुभारम्भ करते हुए ब्रह्मा जी योगीश्वर श्री सदाशिव से निवेदन करते हैं :-

हे प्रभो ! इस संसार में सभी जीव नाना प्रकार के दुःखों से ग्रस्त हैं । इसलिये आप कृपा करके मायाजाल को समूल काट डालने वाला, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि को नष्ट करने वाला तथा हर प्रकार की सिद्धि को देने वाला ऐसा कोई उपाय बताइये जिससे सभी जीव जन्म-मरण के चक्र से सदा-सदा के लिये मुक्त हो जायें ।

इस पर करुणासागर भववान् श्री शंकर कहते हैं :-

**नानामार्गेण दुष्प्रापं कैवल्यं परमं शुभम् ।**
**सिद्धमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव ।।**

हे ब्रह्मा जी ! मोक्षरूपी परमपद अन्यान्य मार्गों द्वारा प्राप्त किया जाना बड़ा कठिन है । उसे तो केवल सिद्धमार्ग से ही प्राप्त किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त मोक्षप्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, भूख, प्यास, भय, लज्जा, तृष्णा, हर्ष, शोक, जन्म, मृत्यु आदि दोषों से ग्रस्त आत्मा जीव कहलाता है और इनसे मुक्त हो जाने पर वही ईश्वर कहलाता है । आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जीव का जीव-भाव नष्ट हो जाता है । इस प्रकार मोक्षप्राप्ति के दो साधन है-ज्ञान और योग। ज्ञान और योग ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । योग से आत्मस्वरूप का यथार्थ

ज्ञान होता है और ज्ञान से योगमार्ग में प्रगति होती है तथा योग सिद्ध होता है । फिर भी योग का स्थान उच्च है । क्योंकि - मोक्ष का साधन योग ही है । जैसे :-

**ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।**

**विना योगेन देहेन न मोक्षं लभते विधे ।।**

मनुष्य भले ही शास्त्रों का ज्ञाता हो, विरक्त हो, धर्मात्मा हो और तपस्वी हो, किन्तु योग के बिना वह मोक्ष को नहीं पा सकता ।

**ज्ञाननैव विना योगो न सिध्यति कदाचन ।**

**जन्मान्तरैश्च बहुभिः योगो ज्ञानेन लभ्यते ।।**

**ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।**

**तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।।**

ज्ञान के बिना भी योग सिद्ध नहीं हुआ करता । अनेक जन्मों तक की गई ज्ञानमार्ग की साधना के फलस्वरूप वेदान्ती मनुष्य को योगमार्ग मिला करता है । लेकिन ज्ञान तो एक जन्म की योगसाधना द्वारा ही प्राप्त हो जाता है । इसलिये योग से श्रेष्ठ और कोई मार्ग नहीं है, जो मनुष्य को मोक्ष दिला सके ।

**योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम् ।**

**योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं न हि ।।**

योग से बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है, योग से बढ़कर कल्याणकारी और कुछ नहीं है तथा योग से बढ़कर सूक्ष्मज्ञान और कुछ नहीं है ।

ज्ञानमार्गी साधक चिरकाल तक ''अहं बह्माऽस्मि'' मैं ही ब्रह्म हूँ, ''मुक्तोऽहम्'' मैं मुक्त हूँ, इन महावाक्यों का मनन करता रहता है । किन्तु ''मुक्तोऽहम्'' ऐसा कहने मात्र से वह तत्काल मुक्त नहीं हो जाता और न उसका वह परिश्रम व्यर्थ ही जाता है । महावाक्यों का मनन करते रहने के फलस्वरूप उसे बार - बार मनुष्य शरीर मिलता रहता है और पिछले जन्मों के संस्कारवश वह वर्तमान

जन्म में भी ज्ञान-धारणा करता रहता है । इस प्रकार उसके पुण्य उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं । जिसके फलस्वरूप अन्त में उसे योगमार्ग मिलता है, जिससे वह जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है ।

**देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।**
**तद्वदेव हि भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ।।**

अन्तकाल में शरीर छूटते समय मनुष्य के मन में जिस प्रकार के भाव होते हैं और जैसा वह चिन्तन करता है, उसके अनुरूप ही उसका भावी जन्म होता है ।

जीवनकाल में जिस प्रकार के चिन्तन का अभ्यास बना होगा अन्तकाल में भी वही चिन्तन होगा । अतः अपने जीवनकाल में पुण्यों का जितना अधिक संग्रह हो सके, कर लेना चाहिये । स्वाध्याय एवं ईश्वर चिन्तन में अधिकाधिक समय लगाना चाहिये । क्योंकि :-

**देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात्पापाच्च फलमाप्यते ।**
**ईदृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ।।**
**पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।**
**ततः सिद्धस्यं कृपया योगी भवति नान्यथा ।।**
**ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।**
**तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।।**

शरीर छूट जाने के बाद ज्ञानी पुरुष को भी अगले जन्म में अपने द्वारा किये गये पुण्य और पाप का फल भोगना पड़ता है । वह बार-बार मनुष्य शरीर धारण करता है। अन्त में जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का भोगकाल उपस्थित होने पर उसे सिद्धगुरु की संगति प्राप्त होती है और सिद्धगुरु की कृपा से वह योगी बनता है । तब उसका जन्म-मरणरूप संसारचक्र नष्ट होता है । आवागमन से छूटने का और कोई उपाय नहीं है । ऐसा भगवान् शंकर का कथन है । इसलिये योग से बढ़कर मोक्षदाता मार्ग इस संसार में और कोई नहीं है ।

अपने इस कथन की पुष्टि में महायोगी भगवान् सदाशिव आगे फिर कहते हैं :-

**तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः ।**
**न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं बिना विधे ।।**

हे ब्रह्मन् ! तर्क-वितर्क करने से, परमेश्वर की चर्चा करने से, शास्त्रों का मनन करने से, युक्ति से, मन्त्रजाप तथा औषधि सेवन से यह चंचल स्वभाव वाला मन एवं प्राण तब तक वश में नहीं होता, जब तक किसी सिद्धगुरु की कृपा न हो जाये। सिद्धों का शक्तिपात हो जाने पर अधिकारी शिष्य पूर्ण योगी बन जाता है और हर प्रकार से कृतार्थ हो जाता है । इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चहिये कि-शास्त्रों का स्वाध्याय, ईश्वर चर्चा एवं मन्त्रों का जप करना व्यर्थ है । इन सबका महत्त्व तो है ही है, ये सभी सिद्धकृपाप्राप्ति के साधन हैं । अतः सिद्धकृपाभाजन बनने के लिये साधक को अपना स्वाध्याय उत्तरोत्तर बढ़ाते ही रहना चाहिये ।

## सिद्धमार्ग एवं योगसाधना

सिद्धासन या किसी भी सुखद आसन पर बैठकर दोनों हाथों को गोद में रखकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर टिकाकर श्वास-प्रश्वास से अपने गुरुमन्त्र में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए साथ ही गुरुदेव का सतत चिन्तन करते हुए उनके द्वारा बताई गई विधि के अनुसार नियमानुवर्तिता से एवं दीर्घकाल तक जप एवं ध्यानाभ्यास करते रहने से योग की सभी क्रियायें साधक के अन्दर स्वतः ही होनी आरम्भ हो जाती हैं । सब प्रकार की योगसिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं और ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इस सिद्धान्त के अनुसार कालान्तर में वह स्वयं भी सिद्धयोगी बन जाता है ।

## गुरुमन्त्र की महिमा

सिद्धगुरु से प्राप्त मन्त्र गुरुदेव का सूक्ष्म शरीर ही होता है । गुरुदेव की सभी सिद्धि-शक्तियाँ उस मन्त्र के अन्दर समायी होती हैं । गुरुदेव की कृपा एवं पूर्ण शक्तिपात प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि-साधक अपने गुरुमन्त्र का अधिकाधिक जाप करे । गुरुमन्त्र चाहे कोई क्यों न हो, उसे कभी साधारण नहीं समझना चाहिये ।

गोसाई तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में लिखा है :-

**मन्त्र परम लघु जासु बश विधि हरि हर सुर सर्व ।।**

अर्थात - मन्त्र देखने में भले ही छोटा हो किन्तु उस में इतनी अधिक सामर्थ्य होती है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य सभी देवी देवता उसके वश में होते हैं ।

योगशिखोपनिषद् में आदि गुरु भगवान् श्री सदाशिव द्वारा गुरुमन्त्र की महिमा का सविस्तार वर्णन किया गया है :-

**शिवशक्तिमयं मंत्रं मूलाधारात्समुत्थितम् ।**
**तस्य मन्त्रस्य वै ब्रह्मन् श्रोता वक्ता च दुर्लभः ।।**

सिद्धगुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र मूलाधार चक्र से उठकर ऊपर के अन्य चक्रों की ओर गतिशील होने के कारण शिव-शक्ति का ही स्वरूप होता है । हे ब्रह्मन् ! उस मन्त्र का प्रदाता सद्गुरु एवं उसे प्राप्त करने वाला अधिकारी शिष्य दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ।

**मननात्प्रणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।**
**मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा ।।**

हे ब्रह्मन् ! मनन करने से (मानसिक जप से) श्वास-प्रश्वास द्वारा जपे जाने से, मुझ परमेश्वर का बोध कराने वाला होने से तथा मुझ परमेश्वर का अधिष्ठान होने से इसे मन्त्र कहा जाता है ।

**मूलत्वात्सर्वमन्त्राणां मूलाधारसमुद्भवात् ।**
**मूलस्वरूपलिङ्गत्वान्मूलमन्त्र इति स्मृतः ।।**

सभी मन्त्रों का मूल होने से, मूलाधार चक्र से प्रकट होने वाला होने से तथा मूलस्वरूप होने से इसे मूलमन्त्र कहा जाता है ।

भगवान् का उपरोक्त कथन हंसमन्त्र की ओर संकेत करता है ।

## ध्यानाभ्यास का फल

विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते मनः ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवात्र विलीयते ।।

सांसारिक विषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य का मन उन विषयों में ही रमा रहता है । विषयों का चिन्तन करते रहना ही मन का स्वभाव बना रहता है किन्तु उसी मन को विषयों के चिन्तन से हटा कर मुझ परमेश्वर के स्मरण (ध्यान) में लगा दिया जाये तो वह मुझ परमेश्वर में ही विलीन हो जाता है । अर्थात् जीव अपने अंशी परमेश्वर में मिल जाता है ।

सर्वज्ञत्वं परेशत्वं सर्वसम्पूर्णशक्तिता ।
अनन्तशक्तिमत्वं च मदनुस्मरणाद्भवेत् ।।

ध्यानाभ्यासी योगी सर्वज्ञ (सब कुछ जानने की सामर्थ्य वाला) बन जाता है, संसार के सभी प्राणी उसके वश में हो जाते हैं और उस के अन्दर सब पर शासन करने की योग्यता आ जाती है तथा वह सब प्रकार से शक्तिसम्पन्न बन जाता है । मुझ परमेश्वर का सतत चिन्तन करते रहने के फ़लस्वरूप ही योगी के अन्दर ये सभी सिद्धियां प्रकट हुआ करती हैं ।

## योगी की अचिन्त्य शक्ति

इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रत्वजरामरः ।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित् ।।
अचिन्त्यशक्तिमान्योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ।।
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु ।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति ।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव वै ।।

सिद्धयोगी अपनी इच्छानुसार शरीर और रूप बनाने की सामर्थ्य रखता है वह प्रकृति के नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त होता है और वह अजर-अमर बनकर तीनों लोकों में जहाँ-तहाँ लीलापूर्वक विहार करता रहता है ।

योगी की शक्ति असीम होती है । उसकी शक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वह चाहे तो अपने संकल्प से हजारों शरीर एक साथ धारण कर सकता है और फिर उनका संहार भी कर सकता है ।

वह सदा अजर-अमर रहता है । क्योंकि उसने योग की कठिन साधनाओं के द्वारा अपने आप को पहले ही मार दिया है । अतः जो पहले ही मर चुका है, उसका मरण कैसे संभव है ?

जहाँ पर संसार के प्राणियों की मृत्यु होती है, वहाँ वह अमर रहता है, और जिन विषयों के अन्दर सांसारिक जन जीवित रहते हैं, उन विषयों को वह छूता तक नहीं । वहाँ वह मरे हुए के समान रहता है । क्योंकि उसने प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया होता है । अतः इच्छारूप होकर तीनों लोकों में विचरण करने की सामर्थ्य वाला बन जाता है ।

योगशिखोपनिषद् में चतुर्विध प्राणायाम, त्रिबन्ध, खेचरीमुद्रा, कुण्डलिनी महाशक्ति एवं शरीरस्थित षट्चक्रों (सूक्ष्म शक्तिकेन्द्रों) का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । साथ ही महायोग के अन्तर्गत मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया गया है और राजयोग को ही योगविद्या का अन्तिम सोपान बताया गया है । संयमसिद्धि ही राजयोग है । ध्यानाभ्यास द्वारा मन की एकाग्रता को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहने से संयम सिद्ध होता है । इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए आदियोगी भगवान् आशुतोष ने मूलाधार कमल के ध्यान का विशेष महत्व बताया है । सुषुम्ना नाड़ी तथा उससे सम्बद्ध मूलाधार आदि षट्चक्रों के ध्यान की महिमा बताते हुए यहां तक कह दिया है :-

**अश्मेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च ।**
**सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।**
**सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः ।**
**सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः ।।**

**अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमाः यमाः ।**
**सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।**

कन्दस्थान में मूलाधार कमल के पास स्थित सुषुम्ना नाड़ी (ब्रह्मनाड़ी) में ध्यानयोग द्वारा संयम सिद्ध कर लेने से योगी को जो फल मिलता है, उसकी तुलना हजारों अश्वमेध यज्ञ और सैंकड़ों वाजपेय यज्ञ भी नहीं कर सकते ।

सुषुम्ना ही सबसे बड़ा तीर्थ है । अतः अन्य तीर्थ स्थानों में भटकने की बजाय सुषुम्नारूप आत्मतीर्थ में ही मज्जन करना चाहिये ।

सुषुम्ना ही सबसे श्रेष्ठ जप है । अतः मूलाधार आदि चक्रों में मन को एकाग्र करते हुए श्वास-प्रश्वास द्वारा अपने गुरुमन्त्र का जप करना चाहिये । सुषुम्ना में मन एवं प्राण को स्थिर करते हुए ध्यानाभ्यास करना ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है और सुषुम्ना ही योगी की मुक्ति का साधन है ।

अनेक प्रकार के यज्ञ, दान, व्रत नियम आदि पुण्य कृत्य भी सुषुम्ना एवं मूलाधार आदि षट्चक्रों पर मन तथा प्राणों की स्थिरतारूपी ध्यानयोग के सोहलवें अंश के बराबर भी नहीं हैं ।

उपनिषद् में साररूप में यह बात स्पष्ट की गई है कि जिस प्रकार सभी नदी नालों का गन्तव्य स्थान समुद्र है । समुद्र को पाकर उनकी यात्रा समाप्त हो जाती है। ठीक वैसे ही सभी प्रकार की साधनाओं का उत्कृष्ट फल सिद्धयोग की प्राप्ति ही है। सिद्धयोग में प्रवेश पा लेने के बाद योग के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की साधनायें स्वतः ही छूट जाती हैं और योग ही साधक का साध्य, साधन एवं मार्ग दर्शक गुरु बन जाता है । सद्गुरु की पूर्ण कृपा हो जाने पर आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाने से अविद्याजनित ग्रन्थि (जड़-चेतन की गांठ ) खुल जाती है, उसके सभी संशय नष्ट हो जाते हैं, सभी कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं और वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है । परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को पाकर आनन्द मग्न होकर वह यह अनुभव करता है कि मैंने सब कुछ पा लिया है । अब मेरे लिये पाने योग्य, जानने योग्य और करने योग्य कुछ भी शेष नहीं है ।

(-----)

(अध्याय १७)

# षटचक्र एवं हंसयोग – विज्ञान

योग साधना में हंसमन्त्र का सर्वोत्कृष्ट स्थान है । शास्त्रों में इसे हंसविद्या, हंसयोग, प्राणविद्या, अजपा गायत्री आदि नामों से वर्णित किया गया है । योगचूड़ामणि उपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद्, हंसोपनिषद् आदि सभी उपनिषदों में इस महा मन्त्र की महिमा मुक्तकंठ से गाई गई है । हंसमन्त्र आत्मा का वाचक है । अतः इसे आत्म मन्त्र भी कहा जाता है । जीव स्वाभाविक रूप से इस मन्त्र का अहर्निश जप करता रहता है । वह चौबीस घंटे (दिन रात) में २१६०० श्वास लेता है और इतना ही वह इस मन्त्र का जप करता है । वह श्वास छोड़ते समय ''हं'' ध्वनि करता है और श्वास लेते समय ''सः'' ध्वनि करता है । इस प्रकार जीव द्वारा 'हंस', 'हंस' यह जप बिना प्रयास के ही स्वतः होता रहता है । अतः इसे अजपा जप अथवा अजपा गायत्री कहा गया है ।

यह अजपा गायत्री ही जीव के मोक्ष का साधन है । जीव जब तक इस हंस मन्त्र के रहस्य को नहीं जानता, तब तक वह प्राण और अपान के वश में हुआ बन्धन सें रहता है और जब गुरूपदेश से साधक हंसयोग की साधना आरम्भ कर देता है तो यही मन्त्र उसके मोक्ष का हेतु बन जाता है ।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस – हेसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
शतानि षट् दिवारात्रं सहस्त्राण्येकविंशति : ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः संकल्पमात्रेण नरो पापैः प्रमुच्यते ।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।

अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।

(ध्यानबिन्दूपनिषद्)

शरीर में स्थित प्राण हकार ध्वनि करता हुआ बाहर आता है और फिर सकार ध्वनि करता हुआ भीतर प्रवेश करता है । इस प्रकार जीव सदा हंस, हंस इस मन्त्र का जप करता रहता है । वह एक दिन-रात में 21600 मन्त्र का जप करता है । इस जप को अजपा गायत्री कहते हैं । यह योगियों के लिये मोक्ष दायिनी है । इसके संकल्प मात्र से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है । इसके समान कोई विद्या नहीं है। इसके समान कोई जप नहीं है और इसके समान पुण्य भी न अब तक कोई हुआ है और न आगे होगा ।

ब्रह्मविद्या-उपनिषद् में हंसमन्त्र की महिमा बताते हुए कहा गया है :-

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव परं सत्यं हंस तु शक्तिकम् ।।
हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ।
सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः ।
पृथिव्यादि शिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ।।
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।
मातृका रहितं मन्त्रमादिश्यन्ते न कुत्रचित् ।।

प्राणियों के देह के मध्य में अच्युत रूप 'हंस' सदैव स्थित रहता है । हंस ही परम सत्य है, हंस ही शक्तिस्वरूप है, हंस ही महावाक्य है, हंस ही समस्त वेदों का सार है, हंस ही महान् रुद्र है, हंस ही परब्रह्म परमात्मा है , सब देवताओं के मध्य में हंस ही महेश्वर है । पृथ्वी-जल आदि से लेकर शिवपर्यन्त सभी तत्व और अ से लेकर क्ष तक वर्ण तथा कूटस्थ वर्ण हंस ही हैं । इन सभी वर्णों में मातृका रूप से हंस ही स्थित है । मातृकारहित मन्त्र का कहीं भी उपदेश नहीं किया जाता । अतः सभी वर्ण हंस रूप ही हैं ।

इस प्रकार यह हंस मन्त्र सभी मन्त्रों का राजा है । सभी प्रकार कर सिद्धियों का मूल, योग का आधार, भोग का प्रदाता तथा मोक्ष का साधन यही मन्त्रराज है । योगशिखोपनिषद् में इसे हंस महायोग कहा गया है तथा मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ये चारों इसी महायोग के अंग बताये गये हैं । जैसे :-

**हंसो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।**
**एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।**
**हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।**
**हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैः जीवैश्च जप्यते ।।**
**गुरुवाक्यात् सुषम्नायां विपरीतोभवेज्जपः ।**
**सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ।।**

मन्त्रयोग हठयोग, लययोग और राजयोग ये चारों एक हंस महायोग की ही अन्तर्भूमिकायें हैं । इन चारों से युक्त होने के कारण ही यह महायोग कहलाता है।

श्वास हकार ध्वनि करता हुआ बाहर जाता है और सकार ध्वनि के साथ फिर भीतर प्रवेश करता है । इस प्रकार हंसः, हंसः यह मन्त्र सब जीवों द्वारा स्वाभाविक ही जपा जाता है । गुरु के उपदेश से यही मन्त्र सुषम्ना में उलट जाता है । अर्थात जीव जो अब तक ईड़ा पिंगला नाड़ियों द्वारा हो रही श्वास प्रक्रिया में हंस-हंस ध्वनि का उच्चारण कर रहा था वही अब गुरुकृपा से सुषम्ना मार्ग खुल जाने तथा उसमें प्राणों का संचार हो जाने से ''सोऽहं'', ''सोऽहं'' जपना शुरु कर देता है । इस प्रकार 'हंसः' यह मन्त्र 'सोऽहं' में परिवर्तित हो जाता है । यह मन्त्रयोग कहलाता है । हंसयोग की इस भूमिका को योगदर्शन में अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है ।

जीव प्राण और अपान के वशीभूत होकर ईड़ा-पिंगला मार्गों से प्रतिक्षण ऊपर-नीचे दौड़ता रहता है । यह स्पष्ट करते हुए ''योग चूड़ामणि'' उपनिषद् में कहा गया है :-

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलितकन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ।।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धतथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ।।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ।।

जिस प्रकार हाथ से फेंकी हुई गेंद ऊपर-नीचे उछलती रहती है, उसी प्रकार जीव भी प्राण और अपान वायु के वेग से सदैव चंचल बना रहता है, वह स्थिर नहीं हो पाता । प्राण-अपान के वशीभूत जीव कभी उपर को दौड़ता है और कभी नीचे को । ईड़ा औ पिंगला नाड़ियों से वह ऊपर-नीचे जाता रहता है, किन्तु गति में तेजी के कारण वह दिखाई नहीं देता । जिस प्रकार रस्सी में बंधा बाज पक्षी रस्सी की लम्बाई जितनी दूर तक उड़ता है और फिर उसे खींच लिया जाता है, उसे पुनः छोड़ दिया जाता है और फिर खींच लिया जाता है । उसी प्रकार त्रिगुणों से बंधा हुआ जीव ऊपर-नीचे भटकता रहता है । उसके ऊपर-नीचे जाने का रहस्य जो जान लेता है, वही योगवेत्ता है ।

''त्रिशिखिब्रह्मोपनिषद्'' में कहा गया है कि शरीर के मध्य में स्थित कन्दस्थान का मध्य भाग नाभि भाग कहा जाता है । उस नाभि में बारह अरों वाला चक्र है । उस चक्र को परमेश्वर अपनी माया द्वारा फिराते रहते हैं । इन बारह अरों में जीव विवश होकर इस प्रकार घूमता रहता है, जैसे मकड़ी अपने जाल में फँसी हुई उसी के अन्दर घूमती रहती है ।

ध्यानबिन्दूपनिषद् में कहा गया है :-

तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ।

नाभिमण्डल में जो चक्र है वह मणिपूरक कहलाता है । उसी स्थान पर बारह अरों वाला एक महाचक्र है, उसमें पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव तब तक घूमता रहता है जब तक उसे तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता ।

इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन का आधार प्राण है और प्राणों द्वारा स्वाभाविक ही हंसमन्त्र का जाप होता रहता है, किन्तु सांसारिक मनुष्यों को इसका अनुभव नहीं हो पाता । अतः वे परम कल्याण के भागी नहीं बन पाते हैं ।

अजपा गायत्री की साधना में साधक को विशेष श्रम नहीं करता पड़ता । उसे सावधानीपूर्वक श्वासों की गति को देखना होता है और प्रत्येक श्वास-निःश्वास में 'हंसः', 'हंसः' यह मानसिक जप करना पड़ता है । इसके लिये साधक को स्वस्तिक, पद्म या सिद्धासन पर बैठकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए श्वासों की गति के साथ-साथ मन्त्र का जप करना चाहिये । यदि अधिक समय तक न बैठा जा सके तो पीठ के बल सीधा लेटकर भी जप किया जा सकता है । चलते-फिरते भी इस मन्त्र का मानसिक जप करते रहना चाहिये ।

षट्चक्रों की साधना में इस मन्त्र का विशेष महत्व है । कुण्डलिनी जागरण इसी मन्त्र पर निर्भर करता है । यहाँ पाठकों की जानकारी हेतु शरीर में स्थित षट्चक्रों तथा कुण्डलिनी महाशक्ति का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है ।

मानव शरीर में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के अन्दर छः सूक्ष्म शक्तिकेन्द्र हैं। इन्हें चक्र अथवा कमल कहा जाता है । इनके नाम हैं :-

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ।

(१) **मूलाधार चक्र** :- यह चार पंखुड़ियों वाला कमल गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर है । इसका रंग तपाये हुये सोने के समान देदीप्यमान है । श्री गणेश जी ऋद्धि-सिद्धि सहित इसमें विराजमान रहते हैं । यह पृथ्वी तत्त्व का स्थान है । चित्र ख (1)

(२) **स्वाधिष्ठान चक्र** :- यह लाल रंग का छः पंखड़ियों का कमल है । इसके देवता ब्रह्मा जी हैं और शक्ति सरस्वती है । यह चक्र लिङ्ग नाल के मूल पर स्थित है । इस स्थान पर जल तत्त्व रहता है ।

(३) **मणिपूरक चक्र** :-यह दशदल कमल नाभि स्थान में स्थित है । भगवान्

विष्णु अपनी शक्तिसहित इसमें वास करते हैं । यह अग्नितत्व का स्थान है । चित्र ख (2)

(४) **अनाहत चक्र** :- यह बारह पंखुड़ियों वाला रक्तवर्ण का कमल हृदयदेश में स्थित है । भगवान् सदाशिव गौरीसहित इस कमल को अधिष्ठान किये रहते हैं । यहाँ वायुतत्व रहता है । चित्र ख (3)

(५) **विशुद्ध चक्र** :- कण्ठदेश में स्थित सोलह पंखुड़ियों वाला सुनहरी रंग का कमल विशुद्ध चक्र कहलाता है । इसके देवता लाकिनी है । किन्हीं योगाचार्यों के मत में इसे जीवात्मा का स्थान भी बताया गया है । इस स्थान पर आकाशतत्व रहता है ।

(६) **आज्ञाचक्र अथवा आज्ञाकमल** :- यह सफेद रंग का दो पंखुड़ियों वाला कमल दोनों भौहों के मध्यस्थान में है । इसके दोनों दलों पर 'हं' और 'क्षं' ये दो बीजाक्षर रहते हैं और बीच में ''ॐ'' सुशोभित रहता है । उस पर ज्ञानशक्ति सहित गुरुदेव विराजमान रहते हैं । यह स्थान पंचतत्त्वों की सीमा से बाहर है । अत: पंचमहाभूतों का यहां सर्वदा अभाव हो जाता है । इस कमल का ध्यान ही सर्वोत्कुष्ट ध्यान है ।

(७) **सहस्त्रदल कमल** :- इसे ही सहस्त्रार भी कहा गया है । यह एक हजार पंखुड़ियों वाला कमल मूर्धास्थान में अर्थात् तालु के ऊपर है । यहां चितिशक्ति सहित परमेश्वर वास करते हैं । ये सभी चक्र मेरुदण्ड के अन्दर रहने वाली एक अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ी के अन्दर स्थित हैं ।

## कुण्डलिनी की स्थिति

कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के पास कन्दस्थान में है । वहाँ यह महाशक्ति कमल के कन्द के समान अपनी पूंछ को अपने ही मुंह में डालकर ब्रह्मरन्ध्र के मुंह को ढककर सोती रहती है । जाग्रत हो जाने पर वही शक्ति षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्त्रार चक्र तक पहुंच जाती है और साधक को सकल योग सिद्धियों का स्वामी बनाकर अन्त में उसे मोक्ष प्राप्त करा देती है ।

''योगचूड़ामणि उपनिषद्'' में कुण्डली का वर्णन इस प्रकार किया गया है: -

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।
प्रबुद्धा बह्वियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचिवद् गात्रमादाय ब्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्जिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ।।

कन्द के ऊर्ध्व में कुण्डलिनी आठ कुण्डलों से व्याप्त है और वह वहीं पर अपने मुख से ब्रह्मद्वार के मुख को ढके रहती है । जिस ब्रह्मद्वार के मुख से जीव को निष्पाप होकर जाना होता है, उसी द्वार को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति सोयी पड़ी है । प्राणायाम जनित गर्मी से जाग्रत होकर वह मन और प्राण सहित सुषुम्ना में होती हुई सुई के समान ऊपर को चलती है । जिस प्रकार घर का दरवाजा कुंजी द्वारा खोला जाता है, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी द्वारा शक्ति द्वारा मोक्ष का दरवाजा खोले ।

अजपा गायत्री के जप से अर्थात् 'हंस' मन्त्र का श्वास-प्रश्वास द्वारा अनवरत जप करते रहने से प्राणों की गति मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त होने लग जाती है । जिससे मूलाधार को धक्का लगता रहता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है ।

इस सम्बन्ध में एक रहस्यपूर्ण बात यह भी है कि अजपा गायत्री 'हं' और 'सः' इन दो वर्णों पर ही आधारित है । ये दोनों वर्ण बीजाक्षर हैं । 'हं' शिव का वाचक है और 'सः' शक्ति का । शक्ति का स्थान मूलाधार कमल है और शिव का स्थान है सहस्त्रदल कमल । अतः हंस मन्त्र का निरन्तर जप करते रहने से शिव और शक्ति में (जीवात्मा और परमात्मा) में एकता स्थपित हो जाती है । इस स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है । इस भूमिका को प्राप्त करके योगी कृतार्थ हो जाता है और वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।

## हंस मन्त्र एवं गुरुदेव

'हंस' मन्त्र आत्ममन्त्र है । अतः यह गुरुगम्य है । इसकी साधना जितनी सरल है, उतनी गूढ़ भी है । गुरुमुख से सुनकर ही इसका अभ्यास करना चाहिये । क्योंकि गुरूपदेश से प्राप्त मन्त्र ही प्रभावशाली हुआ करता है, अन्यथा वह वर्णविन्यास मात्र ही रह जाता है । मन्त्र को चेतनता गुरुदेव ही प्रदान करते हैं । यह मन्त्र अत्यन्त गोपनीय है । इसे दूसरों से आगे प्रकट नहीं करना चाहिये ।

हंसोपनिषद् में महर्षि गौतम जी की जिज्ञासा पर सनत्कुमार जी कह रहे हैं: -

**अनाख्येयमिदं गोप्यं योगिनां कोशसन्निभम ।**

**हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम ।।**

इस हंसमन्त्र को किसी अज्ञात एवं अनधिकारी के सम्मुख कभी प्रकट नहीं करना चाहिये । यह योगियों की सिद्धि की तरह परम गोपनीय है । हंस (आत्मा) की स्थिति को बतलाने वाला यह वर्णन भोग और मोक्ष दोनों फलों को देने वाला है । ब्रह्मचारी, शान्त, संयमी और गुरुभक्त साधक ही हंसयोग का अधिकारी है । उसी के सम्मुख ही हंस और परमहंस का रहस्य प्रकट करना उचित है ।

''ब्रह्मविद्योपनिषद्'' में कहा गया है कि यह हंसविद्या ईश्वरत्व प्राप्त करने का एक अमोघ साधन है । अनन्य गुरुभक्त ही इस विद्या का अधिकारी है । गुरुनिष्ठ साधक को ही इस विद्या में प्रवेश करना चाहिये । उसी के लिये यह विद्या फलवती हुआ करती है । जैसे :-

**हंसविद्याऽमृता लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।**

**यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पावनीं पराम् ।।**

**तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया नरः ।**

**शुभमशुभमन्याद्वा यदुक्तं गुरूणा भुवि ।।**

**तत्कुर्यादविचारेण . शिष्यः सन्तोषसंयुतः ।**

**हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ।।**

आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्धवा सुनिश्चितम् ।
देहजात्यादिसम्बन्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान् ।।
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांशुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ।।

इस जगत में हंसरूपी विद्यामृत के समान नित्यत्व प्राप्ति का और कोई साधन नहीं है । जो इस हंस नामक पारमेश्वरी विद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञानपूर्वक सेवा करनी चाहिये । गुरुदेव शुभ या अशुभ जो भी आदेश दें, शिष्य को उस पर किसी प्रकार का विचार न करते हुये सन्तोषयुक्त भाव से उसका पालन करना चाहिये ।

साधक को चाहिये कि वह गुरु से इस हंस विद्या का उपदेश ग्रहण करके सदैव गुरुसेवापरायण रहे और आत्मा द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके उस सर्वव्यापक परब्रह्म परमेश्वर को यथार्थरूप में भली प्रकार से जान लें । शरीर और जाति से सम्बन्धित वर्ण, आश्रम के धर्मों को अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के नियमों को तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के धर्म को और इसी प्रकार वेद-शास्त्र आदि को विशेष महत्व न दे । वह इन सब बातों की उपेक्षा करता हुआ परम कल्याण के लिये सदैव गुरुभक्ति परायण बना रहे ।

एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम् ।
नातः परतरं किञ्चिन्नातः परतरं शुभम् ।।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ।
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत् ।।

(ब्रह्मविद्योपनिषद्)

यह हंसयोग सबसे गुप्त रहस्य है । यही सबसे श्रेष्ठ है । इससे आगे और कुछ भी नहीं है । यह हंसविद्या उसी को देनी चाहिये जो गुरुदेव का सच्चा भक्त हो और सदा भक्तिपरायण रहता हो । उसके अतिरिक्त और किसी को यह विद्या नहीं देनी चाहिये ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन है :-

**यस्य देवे भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।।**
**तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।**

जिस साधक की परमेश्वर में परमभक्ति है और जिस प्रकार परमेश्वर में भक्ति है, वैसी ही दृढ़भक्ति गुरुदेव में भी हो उसी श्रद्धालु महात्मा के हृदय में ये रहस्यमय विषय प्रकाशित हुआ करते हैं ।

यह हंसविद्या परम पवित्र एवं अत्यन्त दुर्लभ है । सभी उपनिषदें एक स्वर में इसकी महिमा गा रही हैं । इस विद्याा का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है ।

**कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।**
**प्राणविद्याा महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।।**

अर्थात् - कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होने वाली यह अजपा गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या और महाविद्या है । जो इसको जान लेता है, वही वेदों के रहस्य का ज्ञाता है ।

(योगचूड़ामणि उपनिषद्)

(अध्याय १८)

# मोक्ष का स्वरूप

मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है । मन स्वभाव से ही अत्यन्त चंचल है तथा ''संकल्पविकल्पात्मकं मनः'' इस परिभाषा के अनुसार संकल्प-विकल्प करना उसका स्वाभाविक धर्म है ।

उपनिषदों में कहा गया है कि मन के संकल्प से ही यह चराचर जगत प्रकट हुआ है । मन का संकल्परहित हो जाना ही आत्मस्वरूपोपलब्धि अथवा मोक्ष की अवस्था है ।

**महोपनिषद् का वचन है -**

**पूर्व मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्,**
**तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम् ।**
**शून्येन शून्यमपि विप्रयथाम्बरेण,**
**नीलत्वमुल्लसति चारूतराभिधानम् ।।**
**संकल्पसंक्षयवशाद् गलिते तु चित्ते,**
**संसारमोहमिहिका गलिना भवन्ति ।**
**स्वच्छं विभाति शरदीयखमागतायां,**
**चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ।।**

अर्थात् परमात्मतत्त्व से सर्वप्रथम मन का ही अविर्भाव हुआ। उसी मन के संकल्परूप यह सारा संसार प्रकट हुआ है । शून्य भी शून्य को उत्पन्न करने वाला है । शून्य आकाश से ही सुन्दर दिखाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है ।

जब संकल्प का नाश हो जाता है तो चित्त की वृत्तियाँ गल जाती हैं और उसके परिणामस्वरूप संसार का मोहरूपी कुहरा भी

गल जाता है । तब शरद ऋतु के आगमन पर निर्मल हुए आकाश के समान वह जन्मरहित सभी प्राणियों का आदि और अन्त एक चिन्मात्र रूप ही भाषित होता है ।

**मनो विकल्पसंजातं तद्विकल्परिक्षयात् ।**
**क्षीयते दग्धसंसारो निस्सार इति निश्चितः ।।**

मानसिक संकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और विकल्प के नष्ट होने पर प्रपञ्च का भी नाश हो जाता है ।

अतः साधक को चाहिये कि तीव्र वैराग्य के द्वारा अपने मन को संकल्परहित बना ले । किसी प्रकार की भी कामना न करे।

**अशेषेण परित्यागो वासनायाः य उत्तमः ।**
**मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः ।।**
**पदार्थे भावना दार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।**
**वासनायाः क्षयं ब्रह्मन् ! मोक्ष इत्यभिधीयते ।।**

त्याग वही श्रेष्ठ है जिसमें वासनाओं की पूर्ण समाप्ति कर दी गई हो । यही श्रेष्ठ अवस्था विद्वानों द्वारा मोक्ष कही गई है। भोग पदार्थो की कामना ही बन्धन है और वासनाओं का समूल नाश ही मोक्ष कहा जाता है ।

महर्षि ऋभु अपने परमतपस्वी, आज्ञाकारी, एवं जिज्ञासु पुत्र निदाध को पवित्र योगोपदेश देते हुए कह रहे हैं :-

हे पुत्र! शम, विचार, सन्तोष और सत्संग ये चार मोक्षमार्ग के द्वारपाल हैं । यदि इनमें से एक का भी आश्रय ग्रहण कर ले तो शेष तीनों स्वयं ही वश में हो जाते हैं । इनका आश्रय लेकर मन को संकल्प, आशा और वासना से रहित बना लेना चाहिए ।

जगत के पाश से मुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन, तप, इन्द्रियदमन और सत्पुरूषों की संगति द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाये । अपने अनुभव से, शास्त्रप्रमाण एवं गुरूदेव के उपदेश से निरन्तर अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । यदि तुमने संकल्प और आशा का अनुसन्धान त्याग दिया है तो कैवल्य की प्राप्ति स्वयं ही हो गयी होगी । क्योंकि चित्त का अकर्तृत्व ही चित्तवृत्तियों का निरोध कहा गया है । इसे ही कैवल्य अथवा पराशान्ति कहा जाता है । इसलिये संसार के सब पदार्थों में आत्मभावना का त्याग कर गूंगे, अन्धे और बहरों के समान रहना चाहिये । ऐसी भावना करनी चाहिये कि ''मै अकर्त्ता हूँ''।

शम वाले (शान्त चित्त वाले) मनुष्य प्राणिमात्र के प्रति दयालु तथा हर स्थिति में समान रहते हैं । संसार में जितने दुःख, तृष्णायें और दुश्चिन्तायें हैं, वे सब शमवान् अर्थात् शान्त मन वाले पुरूष में उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है । जैसे माता पर पुत्र विश्वास करता है, वैसे ही शमवाले पुरूष का कोमल और कठोर स्वभाववाले सभी प्राणी पूर्ण विश्वास करते हैं ।

शम के बाद दूसरा साधन है - विचार । कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिये कि वह निरन्तर विवेकपूर्वक इस बात पर विचार करता रहे कि ''मै क्या हूँ और यह विश्वप्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ है''? वह कभी निरर्थक कार्य न करे और दुर्जनों की संगति से बचता रहे । मृत्यु पर बराबर विचार करते रहना चाहिये कि वह सबको खा जाती है, किसी को भी नहीं छोड़ती । अतः उसके प्रति उपेक्षा भाव मत रखो । यदि उपेक्षा करनी है तो शरीर, हड्डी, मांस, रक्त आदि नश्वर पदार्थों के प्रति करो । जैसे मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है वैसे ही प्राणियों में पिरोये हुए

चिदात्मा को देखो । यह जान लो कि मन का स्वरूप केवल बाहरी है, भीतरी नहीं । गुरू और शास्त्र के वचनों से "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा जान लो और शोकादि का त्याग करो ।

तीसरा साधन है - सन्तोष । सन्तुष्ट व्यक्ति वही कहलाता है, जो प्राप्त वस्तु में समान भाव रखता है और अप्राप्त वस्तु की लालसा नहीं करता । प्राप्त वस्तु के उपयोग में सन्तुष्ट रहने वाला और अप्राप्त वस्तु की चिन्ता न करने वाला पुरूष समान भाव का आचरण करता है । वही सन्तुष्ट है ।

चौथा साधन है - सत्संग । यह मोक्षपथ का महत्त्वपूर्ण सोपान है । साधक को चाहिये कि जब तक आत्मविश्रान्ति की प्राप्ति न हो जाय तब तक समय के अनुसार, देश के अनुरूप और शास्त्र के अनुकूल यथासंभव सत्संग करते हुए मोक्षमार्ग पर विचार करता रहे । महापुरूषों का संग ही सत्संग कहलाता है । सद्गुरू के शरणागत हो जाना सर्वोकृष्ट सत्संग कहा गया है । वही परमकल्याण का अमोघ साधन भी है । क्योंकि -

**दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।**
**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करूणां बिना ।।**
**उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिश्शेषकर्मणः ।**
**योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ।।**

विषयों का त्याग करना जितना दुर्लभ है, ज्ञान के तत्त्व को प्राप्त करना भी उतना ही दुर्लभ है । इसी प्रकार बिना सद्गुरू कृपा के सहजावस्था की प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु जिसने बलपूर्वक अपनी बोधशक्ति को जगा लिया है और सभी कर्मो को त्याग दिया है ऐसे योगी के अन्दर सहजावस्था भी स्वयं ही प्रकट हो जाती है ।

अपने योगोपदेश में महर्षि ऋभु आगे कहते हैं :-

**मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते ।**
**यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते ।।**

मैं तुम्हें मन के रोगों का उपचार बताता हूँ । वह यह है कि जिन-जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये मन चंचल होता है, उन-उन को त्याग दो । यही मोक्षप्राप्ति का एक सरल साधन है।

जिसके लिये इच्छित वस्तु के त्याग की भावना, एकान्तप्रियता और आत्मा की आधीनता दुर्लभ है, वह पुरूषरूप कीड़ा धिक्कार का ही पात्र है । अपनी इच्छित वस्तु का अपने प्रयत्न से त्याग करना ही मन की शान्ति का उपाय है । इसके सिवा अन्य गति नहीं है ।

मन के नियन्त्रण के लिये अभ्यास और वैराग्य का सहारा लेना चाहिये । ''मेरा-तेरा की भावना'' ही मन है और जब इनका त्याग कर दिया जाता है तो मन का स्वतः ही नाश हो जाता है । जैस शरद ऋतु में छिन्न-भिन्न हुए बादल वायु की ठोकर खाकर आकाश में ही लय हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा मन भी लीन हो जाता है । मन का संकल्पहीन हो जाना ही समस्त सिद्धियों का मूल साधन है । यही चंचल स्वभाव वाली स्पन्दनशक्ति चित्त का धर्म है । इस शक्ति को विश्वप्रपंच का रूप ही जानना चाहिये । चंचलतारहित मन ही अमृतस्वरूप है, जिसे शास्त्र मोक्ष कहते हैं ।

मन की चंचलता ही अविद्या है । वासना उसका लक्षण है। यह वासना ही शत्रु के समान है । अतः विचारवान् पुरूषों का कर्त्तव्य है कि वे इस वासना को नष्ट करने का प्रयत्न करें । मन का नाश होना ही अविद्या का नाश होना है । मन के

द्वारा जो कुछ भी अनुभव में आये उसमें चित्त को मत रमने दो ।

आस्था का त्याग करना ही मुक्ति है और आस्था के आधीन रहना ही साक्षात् दुःख है । अनात्मपदार्थो में आत्मभाव रहना ही अविद्या है । इससे परे जो पुरूष अभ्यास और वैराग्य के सहारे से विवेकपूर्वक भोगेच्छा का बलात् दमन करके निर्विकल्प हो जाता है, वही सुखी है ।

"मै वह ब्रह्म हूँ, जो सदा देवताओं का भी उपास्यदेव है। जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, महान् से भी महान्, शाश्वत, कल्याणमय, परमतेजोमय, सर्वज्ञ, सनातन एवं पुराणपुरूष है ।" इस प्रकार की भावना मोक्षप्राप्ति का श्रेष्ठ कारण है ।

जीव बन्धन में कैसे पड़ता है ? यह स्पष्ट करते हुए महर्षि ऋभु आगे कहते हैं कि - जिस आत्मशक्ति को चलायमान करने में देश, काल और क्रियाशक्ति असमर्थ रहती है, वह आत्मशक्ति उच्च, अनन्त पद में अवस्थित है । वह चितिशक्ति जानने में न आने से अपरिमित सी होकर रूपभावना वाली होती है । तब उसके साथ नाम और संख्या लग जाती है । चितिशक्ति का वह रूप देश, काल और क्रिया का आधारभूत है तथा विकल्प के रूप को धारण करने वाला है, वही क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ।

निश्चयात्मक एवं दोषयुक्त अहंकार ही बुद्धि कहा जाता है। वही बुद्धि जब संकल्प का रूप धारण कर लेती है, तब मनरूपी हो जाती है और मन जब घोर विकल्प में पड़ जाता है, तब धीरे-धीरे इन्द्रियरूप को प्राप्त होता है ।

क्वचिन्मनः क्वचिद् बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित् न्या।
क्वचिदेलहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम् ।।

क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तः क्वचिन्मायेति कल्पितम् ।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति च स्मृतम् ।।
क्वचित्बन्धइति ख्यातः क्वचित्पर्युष्टकं स्मृतम् ।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संभवम् ।।
इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दग्धदन्तः फलैर्हीनः वटधाना वटं यथा ।।

इस आत्मा को ही कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान और कहीं क्रिया कहा गया है । इसे ही कहीं अहंकार और कहीं चित्त के नाम से जाना जाता है । इसे कहीं प्रकृति और कहीं माया कहा गया है । यह आत्मा ही कहीं इच्छा और कहीं अविद्या के रूप में जाना जाता है । यह आशारूपी पाश का निर्माता सम्पूर्ण संसार को ठीक वैसे ही धारण किये रहता है जैसे बिना फल का वट बीज वट के वृक्ष को धारण करता है ।

ऋषभ मुनि आगे कहते हैं - हे निष्पाप निनाघ ! अन्तर की आस्था और भावरूप सम्पत्ति का त्यागकर अपने यथार्थ रूप से इस संसार में विचरण करो । ऐसा करने से अमृता नाम वाली समता ही शेष रह जाती है । खेद और उल्लास ये दोनों ही मनुष्य द्वारा स्वयं ही उत्पत्र किये हुए हैं । ऐसा समझ लेने पर समता ही शेष रहेगी । समता को भली प्रकार धारण कर लेने पर फिर आवागमन का कारण ही समाप्त हो जाता है । मुक्त वही है, जो हार्दिक रूप से सब वासनाओं को त्याग देता है और किसी प्रकार की आकुलता को मन में टिकने नहीं देता । देह के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्र आत्मा है । ''मै अन्य हूँ, यह अन्य है'' यह भावना त्याग देने योग्य है । जहाँ मै नहीं हूँ, वह स्थान ही नहीं है । उस वस्तु का भी अभाव है, जो आत्ममय न हो । यह सभी कुछ सत और चिन्मय है तो मै अन्य किसी वस्तु की

अभिलाषा क्यों करूँ ? यह सभी कुछ आत्मा है, यह निश्चय ही ब्रह्म है । इसमें शोक, मोह, जरा और जन्म कुछ भी नहीं है । इसलिये कहीं भी किसी भी वस्तु की कामना न करते हुए जो सहज में ही प्राप्त हो जाय, उसे निर्लिप्त भाव से भोगते रहो । इस प्रकार सर्वथा विकार रहित रहो । क्योंकि :-

**रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित् ।**
**तस्मान्निनाध तृष्णां त्वं त्यजसंकल्पवर्जनात् ।।**

रस्सी के बन्धन में पड़े हुए तो छूट जाते हैं किन्तु तृष्णा के बन्धन में पड़े हुए प्राणी किसी प्रकार नहीं छूट सकते । इसलिये इस पापरूपी तृष्णा को छिन्न-भिन्न कर डालो । संकल्प शून्यता ही इसे काटने वाला महा अस्त्र है । जो पुरूष अभ्यास और वैराग्य के सहारे से विवेकपूर्वक तृष्णा (भोगेच्छा) का दमन कर देता है वही सुखी है।

अपने को शरीर मान लेना ही जीव के बन्धन का एकमात्र कारण है । जैसे:-

**कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिवानहं ।**
**इतिभावनुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ।।**
**नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।**
**इतिभावनुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ।।**
**नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।।**
**इति निश्चितवानन्तः क्षीणविद्या प्रमुच्यते ।।**

अर्थात् मैं कमजोर हूँ, मै दुःखी हूँ, मै हाथ पैर आदि अवयव वाला हूँ, इस प्रकार की भावना रखता हुआ जीव तदनुरूप व्यवहार से बन्धन में पड़ता है । किन्तु जो प्राणी ऐसी भावना रखता है कि - मै दुःखी नहीं हूँ, मै शरीर से भिन्न आत्मा हूँ,

ऐसा विचार करता हुआ देह की चिन्ता से मुक्त और सांसारिक बातों से परे रहने वाला मनुष्य सदा मुक्त ही रहता है । जो मनुष्य अपने को मांस-रक्त का पुतला न मानकर उससे भिन्न होने का भाव रखे, उसके अन्तःकरण से अविद्या का नाश हो जाता है और वही प्राणी मुक्ति को प्राप्त करता है ।

सर्वसारोपनिषद् में भी कहा गया है कि - साधक को यह दृढ़ भावना रखनी चाहिये कि - वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप आत्मा है । वह प्रकृति का कर्त्ता और भोक्ता नहीं है, केवल साक्षीरूप है । वह शोक, मोह तथा जन्म आदि से रहित है । जैसे :-

**नाहं देहो जन्ममृत्यू कुतो मे,**
**नाहं प्राणः क्षुत्पिपासः कुतो मे ।**
**नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे,**
**नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ।।**

## योग की सात भूमिकयें

महोपनिषद् में साप्तभूमिक योग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि योग की सात भूमिकायें अभ्यासी साधक के लिये परम कल्याणकारी होती है । इन भूमिकओं द्वारा प्रकट होने वाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है । इन भूमिकाओं को क्रमशः पार करता हुआ साधन अन्त में तुर्यगा अवस्था का पाकर कल्याण के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है ।

ये भूमिकायें इस प्रकार है :-

ज्ञान की प्रथम भूमिका का नाम शुभेच्छा है । दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसी, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति,

छठी पदार्थभावना और सातवीं भूमिका को तुर्यगा कहा गया है ।

१. **शुभेच्छा**

वैराग्य धारण से पूर्व सांसारिक भ्रमजाल के प्रति मन में ग्लानि उत्पन्न होना, शास्त्रों को जानने की इच्छा तथा महापुरूषों के प्रति श्रद्धा का उदय होना और श्रेष्ठ कर्मो में प्रवृत्ति आदि सात्त्विक भावना को ज्ञानीजनों ने शुभेच्छा कहा है ।

२. **विचारणा**

शुभेच्छा के उदय हो जाने पर साधुसंग एवं शास्त्रों के अध्ययन आदि के द्वारा वैराग्य एवं अभ्यासपूर्वक मन में जो सदाचरण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे विचारणा कहा गया है ।

३. **तनुमानसी**

शुभेच्छा और विचारणा ये दो अवस्थायें प्राप्त हो जाने पर विषयभोगों के प्रति आकर्षण नहीं रहता । इस अवस्था को तनुमानसी कहा जाता है ।

४. **सत्त्वापत्ति**

उपरोक्त तीन भूमिकाओं का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर अन्त:करण के राग-द्वेषादि मल नष्ट हो जाते है, और चित्त विषयों से पूर्णविरक्त होकर शुद्ध सत्त्वस्वरूप में अवस्थित हो जाता है । इस अवस्था को सत्त्वापत्ति कहा गया है ।

५. **असंसक्ति**

पूर्वोक्त भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर जो संसर्गहीन कला सत्व पर आरूढ़ होती है, उसे असंसक्ति कहा जाता है ।

## ६. पदार्थभावना

इन पाँच भूमिकाओं का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर योगी अपने आत्मा में रमण करने लगता है । इस अवस्था में आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थो की भावना का नाश हो जाने के कारण इस भूमिका को पदार्थ भावना कहा गया है ।

## ७. तुर्यगा

योग की पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का पूर्ण अभ्यास हो जाने से साधक की भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह समदर्शी बन जाता है और अपने आत्मस्वरूप में एकनिष्ठ हो जाता है । इस भूमिका को तुर्यगा अवस्था कहते हैं ।

जो साधक योग की इन सात भूमिकाओं को प्राप्त कर लेते हैं तो वे देह रहते अथवा देह त्याग के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है । हृदयग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है, इसी में मुक्ति निहित है ।

# (भाग – ३)

# गीता और रामायण में योग विज्ञान

(अध्याय १९)

# गीता योगसुधा

गीता सभी उपनिषदों, पुराणों एवं दर्शनशास्त्रों का सार है । इसका प्रतिपाद्य विषय योग है । योग के आदिप्रवर्तक, योग-योगेश्वर श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन के माध्यम से जनसाधारण को पवित्र योग विद्या का उपदेश दिया है । जीव क्या है एवं परमात्मा क्या है तथा योग को अपनाकर किस प्रकार मनुष्य शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है ? आदि सभी रहस्यपूर्ण बातें परमयोगी श्री कृष्ण ने अपने श्रीमुख से लोक कल्याणार्थ गीता में स्पष्ट कर रखी हैं । इसके अतिरिक्त जो लोग योग सिद्धान्तों की अवहेलना करके मनमाने ढंग से व्यवहार करते हैं उनकी क्या गति होती है इसका भी स्पष्ट उल्लेख गीता में मिलता है ।

मन की एकाग्रता ही योग में प्रवेश दिलाती है । जैसा कि योगदर्शन में ''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' इस सूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है और अगले सूत्र में ''अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'' कहकर अभ्यास और वैराग्य को उसका उपाय बतलाया है । यही बात जगदात्मा श्री कृष्ण ने गीता के छठे अध्याय के 35वें श्लोक में अर्जुन से कही है -

**''अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।''**

अर्थात् हे अर्जुन ! यह अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला मन अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है । अभ्यास क्या करना है और किस प्रकार करना है? यह बात समस्त गीता में-विशेष रुप से छठे, आठवें, नौवे, बारहवें एवं सत्रहवें अध्याय में सविस्तार समझायी गई है और इसी प्रकार वैराग्य का स्वरुप एवं एसकी साधना का निरुपण 13वें तथा 19वें अध्याय में बड़े सरल रुप में किया गया है।

## योग विद्या की प्राचीनता एवं उसकी महत्ता

गीता में यह बात स्पष्ट की गई है कि योग एक प्राचीनतम विद्या है । कल्प

के आदि में भी इस विद्या का प्रचार था और उस समय भी इसके उपदेशक युगावतार श्री कृष्ण ही थे ।

यथा :-

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ।। (गीता ४/१)
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।। (गीता ४/२)
स एवायं मया तेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। (गीता ४/३)

हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा ।

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु हे अर्जुन! वह योगविद्या बहुत लम्बे समय से इस पृथ्वीलोक में लुप्त प्राय: हो गई थी। अत: वही पुरातन योग मैंने अब तुझे बताया है, क्योंकि तू मेरा भक्त है और प्रिय सखा है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। (गीता ९/२)

यह योग सभी विद्याओं का राजा, सब रहस्यों का राजा, अति पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, प्रत्यक्ष फल देने वाला, धर्मयुक्त और साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है ।

## आत्मा की अमरता

हमारे शरीर रुपी रथ को चलाने वाला चेतनतत्व जीवत्मा या जीव कहलाता

है। इन्द्रियाँ, मन, और बुद्धि उसी से चेतनता प्राप्त करती हैं और क्रियाशील रहती है। जब आत्मा किसी शरीर को छोड़ देती है तब वह शरीर निश्चेष्ट हो जाता हे और मृत कहलाता है, किन्तु आत्मा कभी नष्ट नहीं होती । वह बुद्धि और मन के संस्कारों को लेकर पुनः किसी शरीर में प्रवेश करके बौद्धेय गुण धर्मों से प्रभावित होकर शुभाशुभ कर्मों का भुगतान करती है । आत्मा यद्यपि द्रष्टा है, भोक्ता नहीं किन्तु बुद्धि के गुण धर्मों को लेकर जीवत्मा अपने को सुखी, दुःखी बालक, वृद्ध या रोगी अनुभव करता है। गीता के निम्नांकित श्लोक इस बात को सिद्ध करते है कि आत्मा अमर है, अविकारी है, अनन्त सुख की राशि है, अव्यक्त है तथा उसी को तत्व से जान लेना ईश्वर को जानना है ।

**न जायते म्रियते वा कदाचित्,**

**नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**

**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो –**

**न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। (गीता २/२०)**

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा एक बार होकर फिर दुबारा होने वाला है । क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है । शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता ।

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,**

**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,**

**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा –**

**–न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। (गीता २/२२)**

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ।

**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोच्य एव च ।**

**नित्यः सर्वगतः स्थणुरचलोऽयं सनातनः" ।। (गीता २/२४)**

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती क्योंकि यह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है ।

## जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।**

**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । (गीता १५/१६)**

**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**

**यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।। (गीता १५/१७)**

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**

**अतोऽस्मि लोके वेदेच प्रथितः पुरुषोत्तमः।। (गीता १५/१८)**

यह समस्त संसार प्रकृति का विकारमात्र है । सम्पूर्ण भूतप्रणियों के शरीर उसका अंश होने के कारण विनाशशील हैं किन्तु उन्हें गतिशील रखने वाला चेतनतत्व आत्मा है जो ईश्वर का अंश होने के कारण अविनाशी है। प्रकृति का अंश देह और ईश्वर का अंश देही (आत्मा) इन दोनों से श्रेष्ठ एक और तत्व है जो तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबका धारण-पोषण करता है, वही परमात्मा कहलाता है क्योंकि वह नाशवान जड़वर्ग (प्रकृति) से तो सर्वथा अतीत है, माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम है । इसलिये उसे पुरुषोत्तम कहा गया है ।

महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने भी अपने योगदर्शन में **"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः"** कहकर ईश्वर को पुरुष विशेष बतलाया है ।

इस प्रकार जीवात्मा में और ईश्वर में यही अन्तर स्पष्ट होता है कि ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश है । जीवात्मा किसी शरीर को अधिष्ठान किये अर्थात् किसी शरीर को अपना घर बनाकर उसमें रहता है जब कि -परमात्मा अखण्डमण्डलाकार रुप से समस्त चराचर जगत् में व्याप्त रहता है जैसे :-

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**

**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। (गीता १५/७)**

पूर्वोवत श्लोकों में इस बात का संकेत दिया है कि जीवात्मा ईश्वर का सनातन अंश होने से नित्य शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त है किन्तु माया के वशीभूत होने के कारण वह बन्धन में है । योग की अमरनिधि को पाकर वह इन बन्धनों से मुक्त होकर ईश्वर को प्राप्त हो सकता है । यह समझाना ही गीता का उद्देश्य है ।

## योग के अन्तर्विभाग

गीता में योग के तीन अन्तर्विभाग किये गये हैं । ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग ।

(1) **ज्ञानयोग :–** दृश्य मात्र सम्पूर्ण जगत माया का कार्य होने से क्षणभंगुर, नाशवान, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्यचेतन, निर्विकार, अविनाशी, सच्चिदानन्द-घन ईश्वर का ही सनातन अंश है । इस प्रकार समझकर परम पुरुष परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित रहने का नाम ही ज्ञानयोग है ।

श्रद्धालु और साधनपरायण व्यक्ति ही ज्ञान का अधिकारी है । यथा–

**श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।**

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। (गीता ४/३८)**

श्रद्धालु, संयमी तथा तत्परतापूर्वक साधन में लगे रहने वाला योगसाधक ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान पाकर वह शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। इसलिये –

**"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**

**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः" (गीता ४/३४)**

इसलिये तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों की शरण में जाकर उनसे उसे जान । तुम्हारे दण्डवत् प्रणाम करने से भक्तिपूर्वक सेवा करने से तथा विनीत भाव से जिज्ञासा

प्रकट करने पर वे तत्व को जानने वाले ज्ञानीजन तुम्हें ज्ञान का उपदेश दे देंगे ।

गीता के तेरहवें अध्याय में श्लोक संख्या 7 से 11 तक ज्ञान का यथार्थ स्वरुप सविस्तार वर्णित किया गया है । यथा :-

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी प्रकार भी न सताना, मन वाणी की सरलता, श्रद्धाभक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहरी तथा भीतरी शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर पर पूरा नियन्त्रण इस लोक तथा परलोक के सम्पूर्ण भोगपदार्थों में आसक्ति का न होना, अहंकार का न होना, जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा और रोगादि दुःखों का बार-बार चिन्तन करना, स्त्री-पुत्र-घर और धनादि में ममता न रखना, प्रिय और अप्रिय की प्रप्ति में न तो प्रसन्न होना और न दुःखी होना, केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके श्रद्धा-भक्ति सहित उस परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करना, एकान्त और पवित्र स्थान में रहने का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना तथा अध्यात्म ज्ञान में नित्यस्थिति और परमात्मा को सर्वत्र अनुभव करना यह सब ज्ञान है । इसी ज्ञान की प्राप्ति हेतु कर्म योग, भक्तियोग तथा अष्टाङ्गयोग का निर्देश किया गया है ।

(2) कर्मयोग :-फल और आसक्ति को त्यागकर अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार सभी प्रकार के कर्त्तव्य कर्मों को भगवत् प्रीत्यर्थ करना कर्मयोग कहलाता है । जो व्यक्ति जीवनभर पुण्यमय तथा लोकहित के कार्यों को करते रहते हैं । किन्तु वे न तो फल की इच्छा रखते हैं और न अपने को उन कर्मों का कर्ता समझते हैं वे व्यक्ति कर्मयोगी कहलाते हैं। इस प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है और राजर्षि जनक की भाँति परम-सिद्धि को प्राप्त हो जाता है । फलेच्छा को त्यागकर कर्म करते रहना योगारुढ़ होने का उत्तम साधन है । छठे अध्याय के तीसरे श्लोक में यह बात स्पष्ट की गई है, जैसे:-

**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।**

**योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। (गीता ६/३)**

योगी बनने की इच्छा रखले वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति

में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा है । अर्थात् कर्म करने से ही वह योग में प्रवेश कर सकता है और योगारुढ़ हो जाने पर सर्व संकल्पों का अभाव ही उसके कल्याण का हेतु बन जाता है अर्थात उसके कर्म स्वयं ही छूट जाते हैं।

इसलिए भगवान का आदेश है :-

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।(गीता २/४८)**

हे अर्जुन ! आसक्ति को त्यागकर तथा सफलता और असफलता में समान बुद्धि रखकर योग में स्थित हुआ तू कर्म करता जा, क्योंकि समत्वभाव ही योग कहलाता है ।

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।" (गीता २/४७)**

कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है फल-प्राप्ति में नहीं । इसलिए फल की इच्छा भी मत रख और कर्म करना भी मत छोड़ ।।

**सक्ताः कर्मव्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।**
**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोकसङ्ग्रहम् ।। (गीता ३/२५)**

हे अर्जुन । अज्ञानीजन फलेच्छा को रखते हुए ममता एवं आसक्तिपूर्वक जिस प्रकार कर्मों को करते हैं । विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह भी लोक शिक्षा एवं लोक हित के लिये आसक्ति को त्यागकर उसी प्रकार कर्म करता रहे ।।

**क्रायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।**
**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।। (गीता ५/११)**

कर्मयोगी किसी प्रकार की ममता एवं आसक्ति न रखते हुए भी अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ।

उपरोक्त प्रकार से कर्म करने वाला योगी कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो

जाता है और वह भगवत्प्राप्तिरुप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

यही कर्मयोग का स्वरुप है । इस योग को समत्व योग, निष्काम कर्मयोग, अनासक्तियोग आदि नामों से भी वर्णित किया गया है ।

## भक्तियोग

जिस साधन में भक्ति की प्रधानता हो उसे भक्तियोग कहा जाता है । भक्तियोग का वास्तविक स्वरुप गीता के बारहवें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में समझाया गया है ।

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**

**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः । (गीता १२/८)**

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोसि मयि स्थिरम् ।**

**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय । (गीता १२/९)**

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।**

**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। (गीता १२/१०)**

**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।**

**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। (गीता १२/११)**

इन श्लोकों में परमयोगी श्रीकृष्ण ने भक्ति योग के द्वारा ईश्वर प्रप्ति के चार सरल उपाय बतलाये हैं और उनमें साधक को सर्वप्रथम यह आदेश दिया है कि वह अपना मन और बुद्धि ईश्वर में विलीन कर दे । ऐसा करने के उपरान्त वह ईश्वर में ही निवास करेगा, इसमें सन्देह नहीं है । मन और बुद्धि को ईश्वर में लगाने का अर्थ है कि साधक स्वयं को सर्वतोभावेन ईश्वर के अर्पण कर दे, अपना पृथक अस्तित्व ही अनुभव न करे ।

यदि साधक ऐसा न कर सके तो उसके लिये दूसरा उपाय बताया है -

यदि तू मन को मेरे में लगाने में समर्थ नहीं है तो ध्यानाभ्यास, स्वाध्याय, सत्संग एवं

संकीर्त्तन आदि साधनों के द्वारा मुझ परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा कर।

यदि तू पूर्वोक्त प्रकार से योगाभ्यास करने में भी अपने को असमर्थ समझता है तो स्वार्थ को त्यागकर तथा मुझ परमेश्वर को ही परम आश्रय, परमगति समझकर निष्काम प्रेम भाव से मनसा, वाचा, कर्मणा मेरे निमित्त ही यज्ञ, दान, तपादि कर्मों को कर ।

यदि कोई मनुष्य यह भी न कर सके तो उसके लिये भगवान ने चौथा उपाय बतलाया है कि वह समस्त कर्मों का फल त्याग दे अर्थात् अपने द्वारा किये जाने वाले सभी शुभाशुभ कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर दे ।

९वें अध्याय के १७वें श्लोक में भी ऐसा ही निर्देश किया गया है ।

**यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।**

**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। (गीता ९/२७)**

तू जो कुछ कर्म करता है, जो दान देता है, जो खाता है, जो पूजन-भजन करता है और जो तप करता है वह सब मेरे को अर्पण कर दे । ऐसा करने से तू कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा और मुझे प्राप्त कर लेगा ।

भक्तियोग को योगदर्शन में ईश्वर प्रणिधान कहा गया है तथा उसे अष्टाङ्गयोग का एक महत्त्व पूर्ण अंग बतलाया गया है । गीता के अनुसार चाहे कोई ज्ञानी हो या कर्मयोगी हो अन्त में उसे भक्ति का आश्रय लेना ही पड़ता है ।

ज्ञान की पराकाष्ठा एवं उसका फल बतलाते हुए गीता के १८ वें अध्याय में कहा गया है -

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।**

**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। (गीता १८/५४)**

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः ।**

**ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। (गीता १८/५५)**

ज्ञान की पराकाष्ठा के फलस्वरुप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से

स्थित हुआ प्रसन्न चित्तवाला योगी न तो किसी वस्तु के लिये शोक करता है और न किसी प्रकार की कामना ही करता है तथा सब प्राणियों में समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है ।

उस भक्ति के द्वारा मेरा वास्तविक स्वरुप जानकर तत्काल ही मुझ में लीन हो जाता है । फिर उसकी दृष्टि में मुझ वासुदेव के सिवा और कुछ रहता ही नहीं ।।

अर्जुन को अपना विराट रूप तथा चतुर्भुज रुप दिखाने के पश्चात् ११वें अध्याय के ५३वें और ५४वें श्लोकों में भगवान ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है कि साधक अनन्यभक्ति के द्वारा ही मेरे इस रुप के दर्शन कर सकता है अन्य साधनों से नहीं । साथ ही ९वें अध्याय के २२वे श्लोक में भगवान ने यह घोषणा की है कि जो भक्त-जन अनन्यभाव से चिन्तन करते हुए मुझ परमेश्वर को निष्कामभाव से भजते हैं उनका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ अर्थात् मैं उन्हें भगवत् प्राप्ति करा देता हूँ और भगवत्प्राप्ति के निमित्त किये गये उनके योगसाधन की रक्षा भी मैं स्वयं करता हूँ। छ:ठे अध्याय के ३०वें और ३१वें श्लोकों में जगदात्मा पुन: यह आश्वासन देते हैं । जो मुझे सर्वत्र देखता है और मुझ में सब कुछ देखता है उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह कभी नष्ट नहीं होता । अर्थात मैं उससे दूर नहीं रहता हूँ और वह मेरे से दूर नहीं रहता । तथा जो व्यक्ति एकीभाव में स्थित हुआ समस्त प्राणियों में आत्मारूप से व्याप्त मुझ सच्चिदानन्दधन परमेश्वर को भजता है, वह योगी सव प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी मुझ में ही रमण करता है । क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं । यही भक्ति की पराकाष्ठा है और योग की उच्चतम भूमिका है ।

## ध्यान की विधि एवं उसका फल

साधक को किस प्रकार ध्यानभ्यास करना चाहिए । इस का निर्देश गीता के छ:ठे अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तत्मा निराशीरपरिग्रहः ।। (गीता ६/१०)

साधक को चाहिए कि वह अपने योगाभ्यास के लिये किसी एकान्त स्थान का चयन करे । वहां वह अकेला बैठकर सब प्रकार की आशाओं और कामनाओं को त्यागकर मन तथा इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण करके योगाभ्यास करे ।

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।**
**नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। (गीता ६/११)**

पवित्र स्थान पर कुशा, मृगछाला आदि के आसन को बिछाकर सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी एक आसन में बैठ जाये । आसन न तो अधिक ऊँचा होना चाहिए और न ही नीचा ही ।

**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।**
**उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।। (गीता ६/१२)**

उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करता हुआ और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण करके आत्मशुद्धि के लिए योगाभ्यास करे ।

**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।**
**सम्प्रेक्ष्य नसिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। (गीता ६/१३)**
**प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रहमचारिव्रते स्थितः ।**
**मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः ।। (गीता ६/१४)**

अभ्यासकाल में साधक का मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा होना चाहिए । अर्थात, छाती, गर्दन और सिर ये तीनों एक सूत्र में होने चाहिए । इस प्रकार समकाय शिरोग्रीव होकर नसिका के अग्रभाग को देखता रहे, दिशा-प्रादिशाओं को न देखे ।

ब्रहमचर्य व्रत को धारण करता हुआ एवं सर्वथा निर्भय, शान्त, अन्तःकरण वाला सावधान होकर मन को वश में करके ईश्वर परायण होकर योगाभ्यास करे ।

**संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।**
**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। (गीता ६/२४)**

साधक को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को त्यागकर मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से हटाकर अपने वश में कर ले -

**शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।**

**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। (गीता ६/२५)**

क्रम क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थिर करके परमात्मा के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे।

**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।**

**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। (गीता ६/२६)**

यह स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थों की ओर भागता है । उन उन कारणों को मन से हटाकर उसे बार-बार परमात्मा के चिन्तन में ही लगाये ।

**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।**

**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। (गीता ६/२८)**

इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमात्मा के स्वरुप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मुझ परमेश्वर में स्थित होकर परमानन्द पराकाष्ठावली शान्ति को पा जाता है।

## समाधि का स्वरुप

जिस अवस्था में ध्यानयोग के अभ्यास से निरूद्ध हुआ चित्त पूर्णतया शान्त हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा का दर्शन करता हुआ योगी सच्चिदानन्द-घन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तथा इन्द्रियों के अनुभव से परे, सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, जिस स्थिति को पाकर वह योगी भगवत्स्वरुप से चलायमान नहीं होता तथा परमेश्वर की प्राप्तिरूप जिस लाभ को पाकर वह उससे बढ़कर और कोई लाभ नहीं समझता, जिस अवस्था को प्राप्त हुआ वह भारी से भारी विपत्ति से भी चलायमान नहीं होता तथा जिस अवस्था में दुःखों का

अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसी का नाम समाधि है ।

उस समाधि रुप योग को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है ।

(गीता ६/२० से ६-२३ तक)

## सात्विक आहार एवं उचित दिनचर्या

योगाभ्यासी का आहार बिल्कुल सात्विक होना चहिए । उसे चटपटे और उत्तेजक पदार्थों का कदापि सेवन नहीं करना चहिए । सात्विक आहार क्या है ? यह गीता के १७वें अध्याय में बतलाया गया है ।

**आयुः सत्व बलारोग्य सुखप्रीतिर्विवर्धनाः ।**

**रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्या आहारा सात्विक प्रियाः ।।(गीता १७/८)**

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले मधुर, रसयुक्त, चिकने, शरीर पर अपना स्थायी प्रभाव रखने वाले तथा मन को स्वाभाविक ही अच्छे लगने वाले पदार्थ सात्विक आहार कहलाते हैं । अतः साधक को ऐसे ही आहार का सेवन करना चाहिए । अधिक गर्म, बासी, दुर्गन्ध युक्त, अत्यन्त रूखा, खटाई, लहसुन, मिर्च एवं प्याज युक्त भोजन का सदैव त्याग करना चाहिए । भोजन नियत समय पर तथा भूख से कुछ कम मात्रा में करना चाहिए ।

इसी प्रकार साधक का सोना जागना तथा समस्त दिनचर्या संयमित होनी चाहिए ।

छःठे अध्याय के १७वें श्लोक में यही निर्देश किया गया है यथा :-

**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।**

**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। (गीता ६/१७)**

## असंगता

योग साधक को सदैव असंग रहना चाहिए, किसी प्राणी या पदार्थ विशेष में

उसे बिल्कुल आसक्ति नहीं रखना चहिए, क्योंकि आसक्ति रहने पर उसकी भजन की सारी कमाई लौकिक कामनाओं की पूर्ति में ही लुटती जायेगी और वह परमार्थ से वंचित रह जायेगा । अतः निम्नाङ्कित श्लोक सदा स्मरण रखना चाहिए -

**निर्मान मोहा जितसङ्गदोषा –**

**अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।**

**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञै –**

**र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।। (गीता १५/५)**

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरुप दोष जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरुप में निरन्तर स्थिति है और जिनकी समस्त कामनायें पूरी तरह नष्ट हो गयी हैं सुख दुख नामक द्वन्द्वों से मुक्त हुए ऐसे ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

## दैवी सम्पदा को अपनाना

१६वें अध्याय के पहले, दूसरे एवं तीसरे श्लोकों में दैवी सम्पदा के नाम से जिन दैवी गुणों का वर्णन किया गया है साधक को उन्हें अपनाना चाहिए और अपने व्यक्तित्व में उनका उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए । वे गुण निम्नलिखित हैं ।

**अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।**

**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। (गीता १६/१)**

**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शन्तिरपैशुनम् ।**

**दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। (गीता १६/२)**

**तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।**

**भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। (गीता १६/३)**

भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार शुद्धि, तत्वज्ञान के

लिये ध्यान योग में निरन्तर दृढ़स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवद्भजन तथा यज्ञ आदि उत्तम कार्मों का आचरण, वेदशास्त्रों का पठन-पाठन, स्वधर्मपालन के लिये कष्ट सहन करना, मन वाणी तथा अन्तःकरण की सरलता, मन-वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना, सत्य और प्रिय बोलना, अपना बुरा करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापान के अभिमान का त्याग, चित्त का चंचल न होना, किसी की निन्दा न करना, समस्त प्रणियों में दया रखना, विषयों में आसक्ति न होना स्वभाव में कोमलता मर्यादा के विरुद्ध आचरण में लज्जा अनुभव करना, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, किसी में शत्रुभाव न रखना और अपने को श्रेष्ठ व पूज्य न समझना ये सब दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुए पुरुषों के लक्षण हैं। ऐसे पुरुष ही पूर्ण सात्विक एवं योग के उत्तम अधिकारी कहे जा सकते हैं । अतः उपरोक्त गुणों का सदैव मनन करना चाहिए और उन्हें अपनाने की चेष्टा करनी चाहिए ।

## त्रिविध तप

१७वें अध्याय में श्लोक संख्या १४वें से १६ तक कायिक, वाचिक एवं मानसिक तपों का वर्णन किया गया है । उन पर आचरण करना योग साधना में बहुत सहायक हो सकता है । वे तप हैं ।

### (1) शारीरिक तप

**देवद्विजगुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।**
**ब्रहमचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ।। (गीता १७/१४)**

देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्र रहना, मन वाणी की सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन करना और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप कहा गया है ।

### (2) वाणी का तप

**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।**
**स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङमयं तप उच्चते ।। (गीता १७/१५)**

उद्वेग रहित -प्रिय, हितकारक और सत्य वाणी बोलना, वेदशास्त्रों को पढ़ना एवं परमेश्वर के नाम का जाप करना यह सब वाणी सम्बन्धी तप कहलाता है ।

## (3) मानस तप

**मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।**

**भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। (गीता १७/१६)**

मन की प्रसन्नता और शान्तभाव, ईश्वर चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता इसे मानस तप कहा गया है ।

योग दर्शन में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिघात रुप जो क्रियायोग की साधना बतलाई गई है तथा अष्टाङ्गयोग के अन्तर्गत जिन यम नियमों का निर्देश किया गया है उन सबका समावेश इन तीन प्रकार के तपों में हो जाता है । अतः उपरोक्त श्लोकों पर बार-बार मनन करना चाहिए और उन्हें जीवन में अपनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

## सांसारिक जनों की अन्तिम गति :-

फल की इच्छा रखते हुए पुण्यकृत्य करने वाले सतोगुणी मनुष्य मरकर स्वर्ग में जाते हैं और वे वहाँ के अनन्त सुखों का उपभोग कर पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक में आकर जन्म लेते हैं । रजोगुणी व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त मनुष्यलोक में ही जन्म लेते हैं तथा तमोगुणी व्यक्ति पशु-पक्षी आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं । इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त भी लागू होता है ।

**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम् ।**

**तं तमैवेति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।। (गीता ८/६)**

देहत्याग के समय जीव जिस प्रकार का स्मरण करता है वह उसी प्रकार के शरीर को प्राप्त होता है । अन्तकाल में वही स्मरण हो सकता है जिसका जीवनभर अभ्यास किया गया हो । जो बातें मन को रुचिकर हैं तथा जिन विषयों, पदार्थों या प्राणियों में मन आसक्त रहता है उनका अनायास ही चिन्तन होता रहता है और अन्तकाल में भी स्वाभाविक ही वही चिन्तन होगा ।

अतः अपने जीवन काल में प्रभुस्मरण का अभ्यास करते हुए आत्मोद्धार करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है ।

योगेश्वर श्री कृष्ण की यह चेतावनी है :

**"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**

**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।" (गीता ६/५)**

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचने दे क्योंकि यह जीवात्मा स्वंय ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है । यदि वह योगाभ्यास के द्वारा आत्मोद्धार कर लेता है तब तो वह मित्र है, अन्यथा स्वयं ही अपना शत्रु है एवं आत्मघाती है ।

## योगभ्रष्ट की उत्तम गति

जो साधक अपने जीवनकाल में योग सिद्धि को प्राप्त नहीं हो पाते बीच में ही उनका शरीरान्त हो जाता है, उनकी साधना अधूरी रह जाती है या विलष्ट संस्कारवश जो अन्तकाल में योग से विमुख हो जाते हैं ऐसे व्यक्तियों को गीता में योगभ्रष्ट कहा गया है और उनकी भी उत्तम गति बतलाई है । यथा -

**प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।**

**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। (गीता ६/४१)**

वह योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक वास करके पुनः पृथ्वीलोक में पवित्र धनवानों के घरों में जन्म लेता है ।

**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।**

**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। (गीता ६/४२)**

अथवा उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के कुल में ही जन्म लेता है किन्तु इस प्रकार का जन्म अत्यन्त दुर्लभ है ।

**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।**

**यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। (गीता ६/४३)**

**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।**

**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।। (गीता ६/४४)**

वह व्यक्ति वहाँ अपने पिछले जन्म के शरीर द्वारा किये गये योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त कर लेता है और उसके प्रभाव से पुनः अच्छी प्रकार भगवत्प्रप्ति के निमित्त प्रयत्न करता है ।

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।**

**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। (गीता ६/४५)**

अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धिरुप सिद्धि को प्राप्त हुआ और अति प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी सम्यूर्ण पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर परमगति को प्राप्त होता है ।

## योगी की परम गति

उपरोक्त प्रकरण में योगभ्रष्ट की गति का वर्णन किया गया है । अब योगयुक्त होकर शरीर त्यागने वाले योगी की परमगति का वर्णन निम्नाङ्कित श्लोकों में किया जा रहा है-

**प्रयाणकाले मनसाचलेन**

**भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव**

**भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक -**

**स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। (गीता ८/१०)**

जो योगी अन्तकाल में भक्तियुक्त होकर अपने योगबल से परमेश्वर का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह उस दिव्य परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

**सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।**

**मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। (गीता ८/१२)**

**ओमित्येकाक्षरं ब्रहम व्याहरन्मामनुरस्मरन् ।**

**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। (गीता ८/१३)**

इन्द्रियों के सब द्वारों को रोककर मन को हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को ब्रहमाण्ड में चढ़ाकर योगधारणा में स्थित हुआ जो योगी ''ॐ'' इस एक अक्षर रूप ब्रहम का उच्चारण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है ।

**आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।**

**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। (गीता ८/१६)**

ब्रह्मलोक तक के सभी लोकों से जीव को वापिस संसार में आना पड़ता है क्योंकि वे सभी लोक काल की अवधि वाले होने से अनित्य हैं, किन्तु मैं कालातीत हूँ । अतः मुझको प्राप्त होकर मनुष्य संसार चक्र से छूट जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

गीता में योगरुढ़ता (योगसिद्धि) को ही परम कल्याण का हेतु बतलाते हुए मनुष्य को योगारुढ़ होने की बार-बार प्रेरणा दी गई है तथा उसके अनेकों उपाय बतलाये गये हैं एवं यह सिद्ध किया गया है कि कर्मफल-त्याग तथा निष्काम भक्ति से ही मनुष्य योग सिद्धि को प्राप्त हो सकता है । कर्तव्यकर्मों को स्वरुपतः त्याग देना और मन ही मन विषयों का चिन्तन करते रहना योगप्रप्ति में सहायक नहीं हो सकता । काम सब अनर्थों की जड़ है । अतः कामनाओं का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ त्याग है ।

साधक यम-नियमों के पालन से, स्वाध्याय, सत्संग तथा ध्यानाभ्यास से समाहित चित्त होकर उस अलभ लाभ को प्राप्त कर सकता है जिसे पाकर और कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता । इसी प्रकार अहंता, ममता एवं आसक्ति को त्यागकर लोक कल्याणार्थ कर्म करने वाला कर्मयोगी भी कर्म बन्धन से मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमेश्वर को ही प्राप्त होता है । क्योंकि स्वार्थपूर्वक किया जाने वाला कर्म जहाँ मनुष्य के कर्माशय को बढ़ाता है वहीं निष्कामभाव से किया जाने वाला कर्म पाप-पुण्य रूप कर्माशय को बढ़ाने की बजाये पूर्व संचित कर्मों को भी नष्ट कर देता है ।

गीता में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति को एक दूसरे की प्राप्ति में सहायक माना गया है तथा तीनों का समान महत्व बतलाया गया है । गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सांख्य का योग में समावेश कर दिया गया है । ७०० श्लोकी इस छोटे से ग्रन्थ में योग का असीम सागर संजोकर रखा है । आवश्यकता है इसमें गोता लगाने की ।

(अध्याय २०)

# कर्मयोग का वास्तविक स्वरूप

मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण कोई न कोई कर्म करता ही रहता है । वह न चाहते हुए भी विवश होकर कर्म करता है। वे कर्म ही कालान्तर में कर्माशय का रूप धारण कर लेते हैं और जीव को बन्धन में ड़ाले रखते हैं यदि मनुष्य कर्मरहस्य को समझकर योगनिष्ठ होकर जीवन में व्यवहार करे तो उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म पुण्य-पाप के फलदाता नहीं हुआ करते । फलेच्छा न रखकर कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाने वाला कर्म भोग में नहीं आता । योगदर्शन में कहा गया है :-

**कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।**

अर्थात योगियों के कर्म न पुण्य के होते हैं और न पाप के होते हैं जब कि सांसारिक लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं- पुण्य के, पाप के और पुण्य तथा पाप के मिले-जुले ।

शास्त्रनिहित कर्म पुण्य कर्म कहलाते हैं और जिन कर्मो का शास्त्रों में निषेध किया गया है वे पापकर्म कहलाते हैं । फल की इच्छा न रखते हुए शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्मो को भगवत् प्रीत्यर्थ करना कर्मयोग कहलाता है । जो व्यक्ति जीवन भर पुण्यमय कार्यो को करते रहते हैं किन्तु न तो फल की इच्छा रखते हैं और न अपने को उन कर्मो का कर्त्ता समझते हैं वे कर्मयोगी कहलाते हैं । निर्लिप्त भाव से कर्त्तव्य कर्मो को करते रहना ही आत्मकल्याण का सर्वोत्तम साधन है । जैसे :-

**आरूरूक्षो मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।**
**योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।**

**(गीता ६/३)**

जो योग में आरूढ़ होना चाहता है अर्थात् परिपूर्ण योगी बनना चाहता है, ऐसे मननशील योग साधक के लिये निष्कामभाव से कर्त्तव्य कर्म करना ही कारण कहा गया है, अर्थात कर्म करने से ही मनुष्य योगारूढ़ हो सकता है और योगारूढ़ हो जाने पर सब प्रकार के संकल्पों का मिट जाना ही उसके कल्याण का हेतु बन जाता है ।

भाव यह है कि फल की प्राप्ति-अप्राप्ति में हमारी समता है या नहीं इसका पता तभी चलेगा जब हम कर्म करेगें । इसके अतिरिक्त हमारे अन्दर स्वभाव से ही जो कर्म करने का वेग रहता है उसे मिटाने के लिये कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है । निष्कामभाव से कर्त्तव्य कर्म को करते हुए सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रभाव संसार की तरफ हो जाता है और साधक स्वयं योगारूढ़ हो जाता है । अर्थात् निर्द्वन्द, निष्काम और शान्तचित्त होकर अपने अन्तरात्मा में रमण करता है ।

योगारूढ़ता के क्या लक्षण है यह बात अगले श्लोक में बताई गई है :-

**यदा हि नेन्द्रियाथेषु न कर्मष्वनुसज्जते ।**
**सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ।। ६/४**

जिस काल में मनुष्य न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मो में आसक्त होता है उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी वह पुरूष योगारूढ़ कहा जाता है ।

जैसे इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों में आसक्ति होना ठीक नहीं है वैसे ही कर्मो में भी हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये । फलेच्छा न होने पर भी हमारे मन में कर्म करने का जो वेग होता है उसे ही कर्म की आसक्ति कहते हैं।

यह आसक्ति मिटती हैं ईश्वर प्रत्यिर्थ कर्म करने से तथा निस्वार्थ भाव से प्राणी जगत की सेवा करने से । अत: साधक को चाहिए कि वह कर्म तो विधिपूर्वक और तत्परता से करे पर उसमें आसक्त न होकर सावधानी पूर्वक निर्लिप्त रहे ।

अखिल जगन्नियन्ता योगेश्वर श्री कृष्ण ने अपने पवित्र गीतोपदेश में दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है - सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा । इनमें 'सांख्य' शब्द का अभिप्राय ज्ञानयोग से है और 'कर्म' शब्द कर्मयोग का वाचक है । दोनों का लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति ही है । इन दोनों निष्ठाओं में कर्मयोग का विशेष महत्व है ।

कर्मयोग में कर्म संसार के लिये और योग अपने लिये होता है । अपने लिये कुछ न करने से कर्तृत्व का भाव स्वत: नष्ट हो जाता है तथा कर्म अकर्म बन जाते हैं ।

गीता के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे, बारहवे तथा अठारहवे अध्याय में कर्मयोग का विस्तृत वर्णन किया गया है । तीसरे अध्याय में तो आद्योपान्त कर्मयोग का ही वर्णन है । इस अध्याय का नाम ही कर्मयोग रखा गया है ।

मनुष्य कर्म करने के लिये विवश है और कर्म करना उसका अधिकार भी है । अत: उसे कर्तव्य बुद्धि से तथा समता का भाव रखते ही हुए ही अपने सभी कर्म करने चाहिये -

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।**
**मा कर्मफल हेतु र्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। २/४७।।**

तेरा कर्म करने में अधिकार है फल प्राप्ति में नहीं । इसलिये फल की इच्छा मत रख और कर्म करना भी मत छोड़।

**इस श्लोक में चार बातें बताई गई हैं -**

1. ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दे रखा है। अत: उसे ईश्वर की आज्ञा समझकर कर्त्तव्यपालन के उद्देश्य से सदैव कर्मरत रहना चाहिये ।

2. कर्मों का फल प्राप्त करने में वह किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है । अत: उसे फल की चिन्ता ईश्वर पर छोड़ देनी चाहिये ।

3. अपने द्वारा किये गये कर्मों में तनिक भी ममता एवं आसक्ति नहीं रखनी चाहिये ।

4. ऐसा भी न हो कि मनुष्य कर्म करना ही छोड़ दे । क्योंकि जिस प्रकार निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पाप का भागी बनता है उसी प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन न करना भी अपराध है ।

**योगस्थः कुरू कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।**
**सिद्धयासिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।**

२/४८

हे अर्जुन ! तू आसक्ति को त्यागकर सफलता और असफलता में समानबुद्धि वाला होकर तथा योग में स्थित होकर कर्म करता जा । क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है ।

इस समतावस्था को प्राप्त करने के लिये कर्मयोगी अपने सभी कर्मों एवं उनके फल में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता। जिस कारण वह राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारों से निर्लिप्त रहता है । सफलता मिलने पर उसे हर्ष नहीं होता और असफलता मिलने पर वह किसी प्रकार का शोक भी नहीं करता ।

गीता के तीसरे अध्याय में कर्मयोग का सविस्तार वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा वस्तुतः एक ही है और दोनों का आधार कर्म है तथा तत्वज्ञान की प्राप्ति रूप फल भी एक ही है । अन्तर है तो केवल इतना कि सांख्य (ज्ञानयोग)में विवेकपूर्ण वैराग्य की प्रधानता रहती है और कर्मयोग में निःस्वार्थ कर्म की । अतः मनुष्य को सदैव कर्मरत रहना चाहिए ।

क्योंकि :-

**न कर्मणामनारम्मान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते ।**
**न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।** (३/४)

मनुष्य न तो कर्मो को आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठा) को प्राप्त होता है और न कर्मो के त्यागमात्र से ज्ञानयोग की सिद्धि को प्राप्त होता है । भाव यह है कि कर्मयोग का आचरण करने वाला मनुष्य कर्मो को करता हुआ ही निष्कर्मता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार ज्ञानयोगी कर्म में कर्तापन के अभिमान को त्यागकर तत्व ज्ञान की प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है ।

जिस स्थिति में साधक के कर्म अकर्म बन जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते उस स्थिति को निष्कर्मता कहा गया है । जिस प्रकार भुने हुए या छिलके से रहित हुए बीज में पुनः अंकुरित होने की शक्ति नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार कामनारहित होकर तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्म शुभ-अशुभ फल के दाता नहीं होते ।

प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है । शरीर एवं इन्द्रियाँ प्रकृति का ही अंश हैं । अतः प्रतिक्षण बदलते हुए पदार्थो के साथ अपना

सम्बन्ध मानने के कारण मनुष्य किसी भी अवस्था में एक क्षण के लिये भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता । प्रकृति के गुण गुणों में बरत रहे हैं, अर्थात् सभी कार्य प्रकृति द्वारा संचालित हो रहे हैं । प्रकृति की इन क्रियाओं से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । ऐसा समझकर कर्मयोगी सांसारिक पदार्थो की कामना का त्याग कर देता है और कर्म करना नहीं छोड़ता । क्योंकि फलेच्छा एवं आसक्ति को त्यागकर कर्त्तव्य कर्मो को करते रहना और मन को ईश्वर चिन्तन में लगाये रखना ही वास्तविक कर्मयोग है । इसके विपरीत हठपूर्वक त्यागी बनकर कर्मो को छोड़ देना मिथ्याचार (ढ़ोंग) कहलाता है । इस सम्बन्ध में भगवान की ओर से यह स्पस्ट चेतावनी है :-

**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन् ।**
**इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। (३/६)**

जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य अपनी आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को और हस्त पादादि कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोक लेता है किन्तु मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह व्यक्ति ढ़ोंगी कहलाता है । किन्तु :-

**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमतेऽर्जुन ।**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। (३/७)**

जो साधक मन से इन्द्रियों को भलीभाँति वश में करके लोक और परलोक के समस्त भोगों में आसक्ति रहित होकर तथा लाभ-हानि में समान बुद्धि रखकर अपनी वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा लोककल्याण के लिये कर्म करता है । वही श्रेष्ठ है ।

किस प्रकार के कर्म बन्धन कारक होते है इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है :-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। (३/६)

यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्मो से विपरीत कर्मो में लगा हुआ जन समुदाय ही कर्मो में बंधता है । इसलिये अनासक्त होकर यज्ञार्थ कर्म करो ।

शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य पालन रूप कर्म तथा यज्ञ, दान, तप, होम, मन्त्रजाप, वेदाध्ययन एवं ध्यानाभ्यास आदि सभी पारमार्थिक कृत्य और दूसरों को सुख पहुँचाने एवं उनका हित करने के उद्देश्य से किये जाने वाले सभी सात्विक कर्म यज्ञार्थ कर्म कहलाते हैं । वस्तुतः यज्ञार्थ कर्म का अभिप्राय सात्विक कर्म से ही है । गीता के अठारहवे अध्याय सात्विक कर्म की परिभाषा बताते हुए कहा गया है -

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।। (१८/२३)

अर्थात् जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है और कर्त्तव्य के अभिमान से रहित है तथा फल की इच्छा न रखने वाले पुरूष के द्वारा राग-द्वेष से रहित होकर किया गया है ऐसा कर्म सात्विक कर्म कहलाता है ।

इसके अतिरिक्त जितने भी सकाम और निषिद्ध कर्म हैं वे यज्ञार्थ से अन्यत्र कर्म कहे जाते हैं । भोगेच्छा और ऐश्वर्यबुद्धि से अपने सुख और आराम के लिये किये जाने वाले सभी प्रकार के राजस और तामस कर्म इसी श्रेणी में आ जाते हैं । ये सभी कर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाले होते हैं, किन्तु यज्ञार्थ कर्मो में आसक्ति का अभाव होने के कारण वे स्वयं तो

भोग में नहीं आते साथ ही साधक के पूर्वसंचित कर्मो को भी भस्म करके उसे सर्वथा निष्पाप बना देते हैं ।

**योगसन्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।**
**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।। (४/४६)**

कर्मयोग के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मो से विच्छेद हो गया है और ज्ञान के द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयों का नाश हो गया है ऐसे योगी को कर्म नहीं बांधते ।

संसार में यज्ञ, दान, तप आदि पवित्र करने वाले जितने भी साधन हैं उन सबका फल तत्व ज्ञान है । यह तत्वज्ञान ही योगसिद्धि की परकाष्ठा है । कर्मयोगी के अन्दर यह परम पवित्र तत्वज्ञान स्वतः ही प्रकट हो जाता है ।

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विघते ।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। (४/३८)**

अर्थात् जिस तत्व ज्ञान से सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करने वाला संसार में दूसरा और कोई साधन नहीं है उसी तत्वज्ञान को कर्मयोगी दूसरे किसी साधन के बिना ही स्वयं अपने आप में ही प्राप्त कर लेता है ।

12वें अध्याय के 12 वे श्लोक में भक्तियोग के अन्तर्गत भगवत्प्राप्ति के लिये अभ्यास, ज्ञान एवं ध्यान ये तीन साधन बताये गये हैं और कर्मफलत्याग को इन तीनों से श्रेष्ठ बताया गया है:-

**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद ध्यानं विशिष्यते ।**
**ध्यानात्कर्मफल त्यागस्त्यागाच्छान्तिरन्तरम् ।। (१२/१२)**

अभ्यास से शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्र ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मफलों का त्यागना (ईश्वर को अर्पण

करना) श्रेष्ठ है । क्योंकि कर्मफल त्याग से शीघ्र की परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है । यहाँ कर्मफल त्याग का अभिप्राय कर्मयोग से ही है, क्योंकि कर्मयोग में कर्मफल त्याग की ही प्रधानता रहती है ।

आत्मकल्याण के साधनों में कर्मयोग की विशेष महत्ता है । श्रीमदभगवत् में भी कहा गया है :-

**कर्मयोगस्तु कामिनाम**

अर्थात् सकाम कर्मो में आसक्त आम सांसारिक लोगों के लिये कर्मयोग ही कल्याण का उत्तम साधन है ।

गीता में कर्मयोग को ही महत्ता दी गई है । योग के तीनों अन्तर्विभागों ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समीक्षात्मक विवेचन करके तथा कर्ममीमांसा को भलीभाँति समझाकर अन्त में अठारहवें अध्याय में अखिल ब्रह्माण्ड नायक योगेश्वर श्री कृष्ण ने इसी एक अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि समता का भाव रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करता हुआ ही मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है ।

जैसे :-

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।**
**स्व कर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।**

(१८/४५)

रागद्वेष रहित होकर तत्परता से अपने कर्तव्य कर्मो के सम्पादन में लगा हुआ मनुष्य ईश्वर प्राप्ति रूप परम सिद्धि को पा जाता है । अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार सिद्धि को पा जाता है उसे तू मेरे से सुन -

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ।।

(१८/४६)

जिस परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की तथा समस्त चराचर जगत की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है उस परम पुरूष परमेश्वर की अपने स्वभाविक कर्मो द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि का पा जाता है । अर्थात् कर्मबन्धन से छूटकर परमात्मा को पा जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा सदा के लिये छूट जाता है ।

(आध्याय २१)

# रामायण में योग

श्री राम चरित-मानस एक भक्ति प्रधान धर्म ग्रन्थ है यह समस्त वेदों, उपनिषदों एवं पुराणों का सार है । यह बात इस ग्रन्थ में आरम्भ से ही स्पष्ट कर दी गई है । यथा :-

**नानापुराणनिगमागम संमतं –**

**यद्रामायणे निगदितं क्वचिंदन्यतोऽपि ।**

**स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथ –**

**गाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ।।**

वस्तुतः रामायण एक उत्तम गीत-काव्य, उत्तम नीतिशास्त्र तथा श्रेष्ठ धर्म शास्त्र है । इसकी भाषा इतनी सरल, सरस तथा सुबोध है कि साधारण पढ़े-लिखे लोग भी इसे पढ़ और समझ सकते हैं । इसका मुख्य विषय कर्म प्रधान भक्तियोग है । अतः इसमें आदि से लेकर अन्त तक कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का सरल रीति से विवेचन किया गया है । रामायण कर्मयोग के इस सिद्धान्त का प्रतिपादक है कि मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ अन्त में मोक्ष का अधिकारी बनता है जैसे :-

**धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना ।**

**ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना ।।**

अर्थात्-कर्तव्य-पालन रूप धर्म का आचरण करने से मनुष्य वैराग्यवान बन जाता है । कर्मफल में उसकी स्पृहा नहीं रहती और वह निष्काम कर्मयोगी बनकर योगसिद्धि को प्राप्त होता है । योग से ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा ज्ञान ही मोक्ष का साधन है ।

श्री रामायण कर्मयोग का एक आदर्श ग्रन्थ है । इसकी विशेषता यह है कि

यह सिद्धान्त ग्रन्थ होने के साथ-साथ स्वयं ही दृष्टान्त ग्रन्थ भी है । अर्थात इसमें जहाँ एक ओर योग सिद्धान्तों को समझाया गया है वहीं दूसरी ओर सिद्धयोग के योग-ऐश्वर्य को अद्भुत रूप से प्रदर्शित किया गया है ।

## मनुष्य जन्म की दुर्लभता-

श्री रामचरित-मानस में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है । देवता भी उसके लिये तरसते हैं । अनादि काल से विविध योनियों में भटकता हुआ जीव प्रभु की अहैतुकी दया से मनुष्य शरीर धारण करता है । अतः मानव का कर्तव्य है कि वह सद्गुरू की शरण में जाकर पूरे उत्साह के साथ योग साधना करता हुआ अपना जीवन सार्थक बना ले । जो अभागा मनुष्य इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ में ही गंवा देता है । उसे बाद में पछताना पड़ता है । यह बात निम्नलिखित चौपाइयों में समझाई गई है :-

बड़े भाग्य मानुष तन पावा ।
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा ।।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा ।
पाइ न जेहि परलोक संवारा ।।
सो परत्र दुःख पावहि ।
सिर घुनि घुनि पछिताहि ।।
कालहि कर्महि ईश्वर ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाया ।।

मनुष्य शरीर इस भव सागर को पार करने के लिये एक सुदृढ़ नौका के समान है, अनुकूल वायु ही ईश्वर की कृपा है और सद्गुरू इस मनुष्य शरीर रूपी नौका को चलाने वाले कुशल मल्लाह हैं । ये तीनों ही अत्यन्त दुर्लभ साधन जिसे प्राप्त हो जायें और फिर भी वह आत्मोद्धार के लिये प्रयत्न न करे तो निरसंदेह वह मंद बुद्धि निन्दा का पात्र है । और आत्मघाती की भान्ति अधोगति को प्राप्त होता है । जैसे :-

नरतनु भव वारिधि कहँ बेरे ।

सन्मुख मरूत अनुग्रह मेरे ।।
कर्णधार सद्गुरू दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ कर पावा ।।
जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ ।।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आत्महा गति जाइ ।।

## जीव, माया एवं ईश्वर का स्वरूप

मानसकार गोस्वामी जी ने जीव, माया एवं ईश्वर का रहस्यमय स्वरूप जन साधारण के हितार्थ बहुत सरल भाषा में थोड़े से शब्दों में प्रकट किया है ।

## जीवात्मा का स्वरूप

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
सहज अमल चेतन सुखराशी ।।
सो मायावश भयऊँ गासाँई ।
बन्ध्यो कीर मरकट की नाई ।।

ईश्वर का अंश होने के कारण जीव अविनाशी है, चेतन है, निर्मल है तथा सहज ही सुख की खान है, किन्तु माया के वशीभूत होने के कारण वह तोते तथा बन्दर की भाँति बन्धन में पड़ा हुआ है ।

## माया अथवा प्रकृति

जीव और ईश्वर के बीच में दीवार यही माया है । गोस्वामी जी ने इसी बात को सरस साहित्यिक भाषा में सीता जी के उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है –

आगे राम लषन पुनि पाछे ।
तापस वेष विराजत काछे ।।
उभय मध्य सिय सोहति कैसी ।
ब्रह्म जीव विच माया जैसी ।।

आगे-आगे राम और पीछे पीछे लक्ष्मण तपस्वी वेश धारण किये हुए चले जा रहे हैं । उस समय उन दोनों के बीच में सीता ऐसी शोभा दे रही है मानो जीव और ईश्वर के बीच में माया मूर्तिमान रूप धारण कर विराजमान हो गयी हो ।

तथा -

**मैं अरु मोर तोर तें माया ।**
**जेहि वश कीन्हे जीव निकाया ।।**
**गो गोचर अहँ लगि मन जाई ।**
**सो सब माया जानेहुँ भाई ।।**

मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है, जिसने समस्त जीवों को वश में कर रखा है । इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयों से परे जहाँ तक मन जाता है उसें माया समझना चाहिये ।

## जीव और ईश्वर

**माया ईश न आपकुहँ, जान सकै सो जीव ।**
**बंध मोक्षप्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव ।।**

जो माया के वश में है तथा अपने को माया का प्रेरक जानता है वह जीव है तथा जो बन्धन और मोक्ष का दाता है एवं सबके ऊपर माया का प्रेरक है वही ईश्वर है ।

**मायावश्य जीव अभिमानी ।**
**ईशवश्य माया गुणखानी ।।**
**परवश जीव स्ववश भगवन्ता ।**
**जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।।**

अभिमानी जीव माया के वश में रहता है और सत्व, रज एवं तम रूपा त्रिगुणात्मिका माया ईश्वर के वश में रहती है । इस प्रकार जीव पराधीन है, किन्तु ईश्वर स्वतन्त्र है । जीव अनेक हैं लेकिन ईश्वर एक हैं ।

## सगुण और निर्गुण ब्रह्म में अभेद

**सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा ।**
**गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।।**
**अगुन अरूप अलख अज जोई ।**
**भक्त प्रेमवश सगुन सो होई ।।**

सगुण और निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, ऐसा वेद, पुराण, ऋषि-मुनि तथा ज्ञानीजन बतलाते हैं । वस्तुतः निर्गुण, निराकार, नित्य एवं अजन्मा परमेश्वर भक्त के प्रेम के वशीभूत हुए उसकी भावना के अनुसार साकार प्रकट हो जाया करते हैं ।

## क्रियायोग का उपदेश

श्री राम-चरित-मानस में योग का स्वरूप तथा उसकी साधना पद्धति बड़ी सरल भाषा में वर्णित की गई है । नवधा भक्ति के अन्तर्गत योग के विविध साधनों का गागर में सागर की तरह समावेश कर दिया गया है । तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान रूप क्रियायोग का निरूपण स्थान-स्थान पर इस सरस रूप में किया गया है, कि जन साधारण उस पर आचरण करता हुआ योगारूढ़ हो सकता है । श्री गोस्वामी जी ने भक्ति (ईश्वर प्रणिधान) को समस्त सुखों की खान, योग का मूल और मोक्ष का दरवाजा बताया है तथा महामुनि काक भुशुण्डि, गृद्धराज, जटायु, ज्ञानी सुतीक्ष्ण एवं परम भक्त हनूमान आदि का उदाहरण देते हुए इस बात को सिद्ध किया है ।

ईश्वर प्राणिधान से ही मनुष्य ईश्वरानुग्रह का भाजन बनता है । भगवान सदा उनके वश में रहते हैं और उसे समस्त योग-सिद्धियों से विभूषित कर देते हैं। भक्त हनूमान जी की दिव्य योग लीलायें इस बात को सिद्ध करती हैं ।

भक्ति ही योग की दृढ़ आधारशिला है । जिस प्रकार बिना नींव का मकान स्थायी नहीं होता । पहले तो वह बनते-बनते गिर जाता है और बन भी जाये तो अधिक समय तक टिक नहीं सकता । ठीक इसी प्रकार बिना भक्ति के पहले तो योग मार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती और यदि मनुष्य प्रवृत्त हो भी जाये तो श्रद्धा के अभाव के कारण वह कुछ समय बाद ही लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार स्वाध्याय भी योगसिद्धि का एक सरल तथा श्रेष्ठ साधन है । इसी बात को समझाने के उद्देश्य से सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने रामायण के बाल काण्ड में एक पृथक ''नाम रामायण'' की रचना कर डाली । जिसकी कुछ चौपाइयाँ निम्नलिखित हैं :-

**नाम जीह जपि जागहिं जोगी ।**
**विरति विरंचि प्रपंच वियोगी ।।**
**ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा ।**
**अकथ अनामय नाम न रूपा ।।**
**जाना चहहि गूढ़ गति जेऊ ।**
**नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ।।**
**साधक नाम जपहि लय लाये ।**
**होंहि सिद्ध अणिमादिक पाये ।।**
**जपहिं नाम जन आरत भारी ।**
**मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ।।**

योगीजन जिह्वा से निरन्तर प्रभु का नाम जपकर और वैराग्य पूर्वक संसार को त्याग कर मोहरूपी रात्रि में जागते हैं, जिससे वे उस ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हैं, जो उपमा रहित, अकथनीय एवं सब प्रकार के दुःखों से रहित है तथा जिसका नाम और रूप नहीं है ।

जो मनुष्य गूढ़ रहस्यों को जानना चाहते हैं वे जिह्वा से मन्त्र जाप करते हुए उन बातों को जान सकते हैं । जो साधक मन लगाकर मन्त्रजाप करते हैं, वे अणिमादि सकल योग सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं । महादुःखी मनुष्य भी ईश्वर के नाम का जप करते हुए कष्टों से मुक्त हो जाते हैं और हर प्रकार से सुखी हो जाते हैं ।

## सत्संग – महिमा

श्री रामचरित मानस में सत्संग को कल्याण का हेतु बताते हुए सिद्ध किया

गया है कि बिना सत्संग के मनुष्य योग को प्राप्त नहीं हो सकता । निम्नलिखित चौपाइयों में सत्संग की महिमा का मुक्तकण्ठ से गान किया गया है-

मुद मंगलमय सन्त समाजू ।
जो जग जंगम तीरथ राजू ।।
रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा ।
सरस्वति ब्रह्मविचार प्रचारा ।।

सन्तों का समाज आनन्द और मंगल का दाता है और वह एक चलता-फिरता तीर्थराज (प्रयाग) है । परम प्रभु राम की भक्ति ही मानो गंगा की धारा है और उस परमेश्वर के विचार का प्रचार ही मानो सरस्वती है ।

मज्जनफल देखिये तत्काला ।
काक होहि पिक बकहि मराला ।।
बाल्मीकि नारद घटयोनी ।
निज-सुख मुखन कही निजहोनी ।।
जलचर थलचर नभचर नाना ।
जे जड़ चेतन जीव जहाना ।।
मति कीरति गति भूति भलाई ।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।।
सो जाने सत्संग प्रभाऊ ।
लोकहुं वेद न आन उपाऊ ।।
बिनु सत्संग विवेक न होई ।
राम कृपा बिन सुलभ न सोई ।।

इस सत्संग रूपी तीर्थराज में स्नान करने का फल तत्काल मिल जाता है कि कौआ कोयल बन जाती है और बगुला हंस बन जाता है । इस बात को सुनकर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिये । क्योंकि सत्संग की महिमा अपार है, वह

किसी से छुपी हुई नहीं है ।

बाल्मीकि, नारद और अगस्त्य मुनि जी ने अपने-अपने मुख से अपनी आप बीति कही है, जल में चलने वाले, पृथ्वी पर विचरने वाले और आकाश में उड़ने वाले अनेक प्रकार के जो जड़ और चेतन जीव संसार में हैं उन्होंने बुद्धि, इज्जत, गति, ऐश्वर्य और भलाई जब-जब जिस प्रकार और जहाँ पाई है वे ही सत्संग का प्रभाव जानते हैं । क्योंकि लोक में और वेद में उसे जानने का अन्य कोई उपाय नहीं है। बिना सत्संग के ज्ञान नहीं होता और परमेश्वर की कृपा के बिना सत्संग भी नहीं मिल सकता ।

## गुरू भक्ति महिमा

श्री रामचरित मानस में गुरु-भक्ति को ज्ञान का मूल और मोक्ष का दरवाजा कहा गया है । बिना गुरु-भक्ति के मनुष्य योगी नहीं बन सकता और भव सागर को पार नहीं कर सकता ।

**बिनु गुरु भव निधि तरइ न कोई ।**
**जो विरंचि शंकर समय होई ।।**
**श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योति ।**
**सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।।**
**दलन मोहतम हंस प्रकाशू ।**
**बड़े भाग उर आवहि जासू ।।**
**बिनु गुरु होहि कि ज्ञान ।**
**ज्ञान कि होय वैराग्य बिनु ।।**
**गावहि वेद पुराण ।**
**सुख कि लहहि हरिभक्ति बिनु ।।**

## समाधि का स्वरूप

निम्नलिखित चौपाई में संसार चक्र से छूटने का उपाय समाधि तथा उसका

स्वरूप वर्णित किया गया है ।

**सोहमस्ति इति वृत्ति अखण्डा ।**

**दीपशिखा सोई परम प्रचण्डा ।।**

**आत्म अनुभव सुख सुप्रकाशा ।**

**तब भव मूल भेद भ्रम नाशा ।।**

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यमनियमों का तत्परता से पालन करना, गुरुभक्ति, सन्तों की सेवा, स्वाध्याय, ध्यानाभ्यास कर्तव्यकर्मों को निष्काम भाव से सम्पन्न करना, प्राणिमात्र में दया तथा सर्वत्र भगवद्दर्शन का अभ्यास करना यही योग-साधना का वास्तविक रूप है, जिसका श्री रामचरित मानस में विशद रूप में वर्णन किया गया है ।

**सियाराममय सब जग जानी ।**

**करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।**

इसी आदर्श को लेकर रामचरितमानस की रचना हुई है ।

## योग-सिद्धियाँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रामचरितमानस एक उत्तम योगपरक ग्रन्थ है । इसमें योग सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ दृष्टान्त रूप में योग सिद्धियों का वर्णन भी किया गया है । निम्नलिखित घटनाओं में योग सिद्धियों की स्पष्ट झलक मिलती है ।

जनकपुरी में जगज्जगनी सीता द्वारा ऋद्धि-सिद्धियों को आदेश देकर चमत्कारपूर्ण रीति से बारात का आतिथ्य कराना, महर्षि भारद्वाज द्वारा राजा भरत तथा उनकी अपार सेना के आतिथ्य के लिये वीरान जंगल में उत्तमोत्तम महल, दास-दासियाँ तथा अनेकानेक अनुपम रुचिर व्यञ्जनों की संरचना करना उनके अपार योग ऐश्वर्य को प्रदर्शित करता है । श्री हनूमान जी की प्रत्येक लीला योगसिद्धियों पर आधारित है ।

समुद्र पार करते समय तथा संजीवनी बूटी के लिए जाते समय उन्होंने लघिमा तथा आकाशगमन सिद्धियों का प्रयोग किया । बीच समुद्र में पहुँच कर

लंकिनी नाम्नी राक्षसी का सामना करने के लिए महिमा तथा अणिमा सिद्धियों का प्रयोग किया । अहिरावण का यज्ञ ध्वंस करने तथा उसके बन्धन से श्री राम लक्ष्मण को मुक्त कराने के लिए पुनः अणिमा, लघिमा, महिमा एवं गरिमा इन सभी योग सिद्धियों का सहारा लिया ।

रावण के दरबार में बड़े - बड़े योद्धाओं द्वारा यहाँ तक कि स्वयं महाबली रावण द्वारा भी अंगद का पाँव न हिलना गरिमा सिद्धि का प्रतीक था । इसके अतिरिक्त और भी अनेकों घटनायें हैं जिनमें योगसिद्धियों का पूर्ण परिचय मिलता है ।

अतः कहा जा सकता है कि श्री रामचरित मानस एक उत्तम योगपरक ग्रन्थ है । इसमें साधन योग, सिद्धयोग एवं यौगिक ऐश्वर्य को सुन्दर रूपेण दर्शाया गया है । इसका अध्ययन - मनन और निदिध्यासन करने वाला व्यक्ति अल्पकालं में ही योगारूढ़ होकर कल्याणभागी बन सकता है ।

(अध्याय २२)

# कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बातें

(१) योग-साधना में आधि-व्याधि आदि कुछ विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं, जो साधक को आगे नहीं बढ़ने देते । इन विघ्नों को योग दर्शन में अन्तराय कहा गया है । इनसे बचने के लिए अधिक से अधिक मन्त्र जाप करना चाहिए एवं अपना आचरण पवित्र रखना चाहिए । विघ्नों से घवराकर अभ्यास नही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि योग के अन्तराय योग-साधना से ही दूर होते हैं ।

(२) ध्यानाभ्यास से प्रारम्भ में शरीर की स्वाभाविक गतियों में कुछ परिवर्तन आ जाता है । जैसे-भूख कम लगना, शरीर में गर्मी का बढ़ जाना, गले एवं छाती में खुश्की अनुभव करना आदि । इसे किसी प्रकार का रोग या अन्तराय नहीं समझना चाहिए । आहार कम कर देने तथा कुछ दिन घी, दूध तथा फलों का सेवन करने से इसकी निवृत्ति हो जाती है । इसके लिए दही तथा छाछ का सेवन भूलकर भी नहीं करना चाहिए ।

(३) ध्यानाभ्यास का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जल्दबाजी में लाभ के बजाय हानि भी हो सकती है ।

(४) गृहस्थियों को प्राणायाम पर जोर नहीं देना चाहिए ।

(५) रोग की दशा में ध्यानाभ्यास बन्द कर देना चाहिए और मन्त्र जाप बढ़ा देना चाहिए । इसी प्रकार शरीरिक दुर्बलता की स्थिति में भी बलपूर्वक किसी आसन पर बैठने के बजाय सहज रीति से मन्त्रजाप करते रहना विशेष लाभदायक हो सकता है।

(६) मन को कभी भी अशान्त नहीं होने देना चाहिए । मन की व्याकुलता मिटाने तथा साधना में श्रद्धा बढ़ाने के लिए सत्संग तथा योगपरक ग्रन्थों का अध्ययन

व मनन विशेष लाभदायक सिद्ध हो सकता है । रजोगुण से प्रभावित होने के कारण जिन लोगों का मन अत्यधिक चंचल रहता हैं वे ध्यानाभ्यास में बैठने की अपेक्षा सत्संग और स्वाध्याय से अधिक लाभ उठा सकते हैं ।

(७) मन सहित पाँचों ज्ञानेद्रियों पर संयम करते हुए ही साधक के अन्दर आध्यात्मिक शक्तियाँ विकसित होती हैं । अत: जहाँ तक हो सके संयम का पालन करना चाहिए। वाणी पर संयम विशेष महत्व रखता है ।

किसी को वरदान या अभिशाप दे देना; दूसरों की निन्दा करना तथा लौकिक कार्यों में संकल्प शक्ति का प्रयोग करना आदि बातें साधक के संचित आत्मबल को नष्ट कर देती हैं ।

(८) सद्गुरु की शरण में जाते ही शक्तिपात दीक्षा से साधक के अन्दर शक्ति संचार होता है, कुण्डलिनी शक्ति में चेतना आ जाती है तथा अनायास ही समाधि लाभ होने लगता है । उस समय साधक को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता होती है । यदि यम-नियमों का पालन करते हुए श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव की आज्ञानुसार वह उसी समय से तीव्र अभ्यास आरम्भ कर देगा तो उसके अन्दर सद्गुरु का प्रकाश बना रहेगा और उत्तरोत्तर उसका विकास होता जायेगा, अन्यथा वह शक्ति शनै: शनै: लुप्त हो जाती है। जिसके लिए साधक को बाद में पछताना पड़ता है ।

(९) नियमानुवर्तित से योग साधना करते रहने से साधक के साथ कुछ न कुछ चमत्कार पूर्ण घटनायें होती हैं । ऐसी घटनायें भी योग साधना में प्रगति को सूचित करती हैं ।

(१०) ध्यान में अथवा स्वप्न में हुई दिव्य अनुभूतियों को गुरुदेव के अतिरिक्त किसी अन्य से प्रकट नहीं करना चाहिए ।

(११) साधक को लौकिक मनोविनोदों में रुचि नहीं रखनी चाहिए और किसी प्रकार की औपचारिकता को महत्व नहीं देना चाहिए ।

(१२) उसे इस बात की कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि लोगों के उसके प्रति कैसे विचार हैं ? साधारण सांसारिक व्यक्ति उसे पहचानने में भूल भी कर सकते हैं और उसे अव्यावहारिक, रूढ़िवादी, ढोंगी, सनकी आदि उपाधियों से

विभूषित कर सकते हैं । यदि आप यथार्थ रूप में साधक हैं तो इन बातों की उपेक्षा कीजिए और उनसे लाभ उठाइये ।

इस प्रकार की बातें भी साधना में सहायक हो सकती हैं । अत: इनसे लाभ उठाना चाहिए । **हमें दूसरों को यह नहीं जताना है कि हम क्या हैं ? और न दूसरों की धारणा के अनुसार अपने को जानना है, बल्कि अपने को अपने द्वारा अपने आप में जानना है । यही हमारी साधना है ।**

**संसार में रहते हुए सांसारिकता से प्रभावित न होना यही साधना की कसौटी है ।**

इस विषय में गीता का निम्नांकित श्लोक स्मरण रखने योग्य है :

**या निशा सर्वभूतानां,**
**तस्यां जागर्ति संयमी ।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि,**
**सा निशा पश्यतो मुनेः ।।**

(अध्याय २३)

# उपसंहार

**दुर्लभं त्रयमेवेतत्, देवानुग्रह हेतुकम् ।**
**मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं, महापुरुष संश्रयः ।।**

मनुष्य जन्म, मोक्ष की इच्छा और महापुरुषों की आश्रय ये तीनों चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं । ये परमेश्वर की अपार कृपा से ही मिला करती हैं । इनमें पहले तो मनुष्य शरीर का मिलना ही सौभाग्य की बात है, फिर मनुष्य जीवन पाकर जो व्यक्ति मुक्ति की इच्छा रखता हो वह बहुत अधिक सौभाग्यशाली है और जिसको मुमुक्षा के साथ ही मार्गदर्शक गुरुदेव भी मिल जायें, उससे बढ़कर सौभाग्यशाली इस संसार में और कौन हो सकता है ?

इसके विपरीत इस देव-दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर भी जो व्यक्ति मुक्ति की इच्छा से योग-साधन में प्रवृत्त नहीं होता तथा महापुरुषों की शरण में नहीं जाता वह अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ ही गंवा रहा है । इसे यदि उसका दुर्भाग्य कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम योग साधना से, आत्मसाक्षात्कार करके इस दुर्लभ मानव शरीर की सार्थकता सिद्ध करलें । क्योंकि मनुष्य जीवन का चरम पुरुषार्थ भी यही है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में मानव मात्र को चेतावनी देते हुए यही बात योगेश्वर श्री कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से कही है :-

**उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।**

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह योग साधना द्वारा अपना उद्धार कर ले,

अपना पतन न करे (अपने को अधोगति में न डाले) । क्योंकि यह मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है ।

दुर्भाग्यवश योग-सिद्धान्तों से परिचित न होने के कारण अधिकांश लोग इस विषय में अन्धकार में हैं । वे योग शब्द का गलत अर्थ लगाते हैं । अधिकांश लोग इसे किन्हीं प्रचलित आसनों तक ही सीमित समझते हैं, कुछ व्यक्ति योग को 'जोग' शब्द का पर्यायवाची समझकर इसे संन्यासियों का विषय मानते हैं, कुछ अन्य बुद्धवादी लोग इसे भोग-प्राप्ति का साधन समझते हैं । उनका कहना है कि योग हमारे शरीर और इन्द्रियों को दीर्घकाल तक स्वस्थ बनाये रखता है ताकि हम अधिकाधिक विषयोपभोग कर सकें । कुछ व्यक्ति योग के नाम से ही इसलिए डर जाते हैं कि कहीं उन्हें सांसारिक सुख न छोड़ना पड़े, कुछ अन्य लोग योग को एक कठिन विद्या समझकर उसमें प्रवृत्त होने का साहस ही नहीं करते तथा कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इस विद्या से प्रभावित होकर योग मार्ग को अपना तो लेते हैं, किन्तु महत्त्व वे भी लौकिक विषयों को ही देते हैं । उनका भी कुछ हद तक यही उद्देश्य रहता है कि गुरुदेव के आशीर्वाद तथा अपनी साधना के बल पर हम लौकिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करते रहें ।

वस्तुतः यह सब योग नहीं है और न इस प्रकार की साधना को योग साधना कहा जा सकता है । यह स्पष्ट करने के लिए इस पुस्तक के पहले भाग में साधन योग के अन्तर्गत योग का वास्तविक स्वरूप और शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित योग साधना के कुछ सरल उपाय बताये गये हैं । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि हम उन साधनों में से किन्हीं दो चार को भी अपने जीवन का अंग बना लें तो निश्चित ही हमारा जीवन योगमय बन सकता है । क्योंकि योग एक ऐसी अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण विद्या है जो स्वयं साधक का मार्ग दर्शन करती हुई उसे योगारूढ़ बना देती है ।

कहा भी है :-

**योगेन योगो ज्ञातव्यो, योगोयोगात्प्रवर्तते ।**
**योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमतेऽचिरम् ।।**

योग से ही योग जाना जाता है और प्रारम्भिक साधना से योग की अगली

भूमिकायें स्वत: ही बनती जाती है, जो व्यक्ति आलस्य छोड़ कर योगसाधना में लगा रहता है वह चिरकाल तक योग में रमण करता है ।

**योग को कठिन विद्या भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि इसकी प्राप्ति के लिये भी कुछ परिश्रम, सच्ची लगन एवं त्याग की आवश्यकता है। जिस प्रकार लौकिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये अथक परिश्रम एवं सच्ची लगन की अपेक्षा रहती है, यही बात योगसाधना में भी लागू होती है ।**

विश्वविद्यालय की उच्चडिग्रियाँ, अधिकारीपद, राजनैतिकपद तथा धन-सम्पत्ति आदि नाशवान लौकिक ऐश्वर्यो की प्राप्ति के लिए मनुष्य जिस निष्ठा से श्रम करता है, वही यदि योग साधना में हो और उसका दशांश भी परिश्रम सच्ची लगन से किया जाय, तो मैं समझता हूँ कि योग प्राप्ति में फिर कोई विलम्ब नहीं रहेगा। हमने संगीत के विद्यार्थियों को सितार, मृदंग आदि अपनी-अपनी रुचि के विषयों में विशेष दक्षता प्राप्त करने के लिए ६-६ घन्टे तक एक आसन पर बैठकर अभ्यास करते देखा है । इसी प्रकार विज्ञान तथा तकनीकी-क्षेत्र के विद्यार्थियों को अपने विषयों में परिपूर्णता प्राप्त करने हेतु कितना घोर श्रम करना पड़ता है यह सब जानते हैं ।

मुझे एक प्रेरणात्मक प्रसंग याद आ रहा है । एक साइकिल चालक अपनी उदर पूर्ति के लिए साइकिल सवारी का प्रदर्शन करने नाहन भी पहुँचा और पाँच दिन तक लगातार साइकिल चलाता रहा । पाँच दिन और पाँच रात उसे साइकिल पर सवार रहना पड़ा । इस दौरान उसने न भोजन किया न शौच-निवृत्ति और न निद्रा सेवन। उसकी बहादुरी देखने के लिए लोगों की भीड़ लगी रहती थी, पर मुझे उस पर दया आती थी और सोचता था कि उस बेचारे की वह घोर परिश्रम की कमाई कितने दिन चलेगी ? एक सप्ताह बाद ही उसे फिर कहीं अन्यत्र पाँच दिन के बजाय आठ या दश दिन का प्रदर्शन देना पड़ेगा ।

काश ! इस प्रकार का अभ्यास एवं घोर तप हम अपनी साधना में एक बार भी करने में सफल हो जाते तो साइकिल चलाना रूप यह संसारचक्र सदा के लिए छूट जाता, हमें वह अमूल्य निधि मिल जाती जिसकी तुलना में दुनिया भर की दौलत भी कुछ नहीं है ।

निस्सन्देह ! योग दिव्य रत्नों का एक अगाध सागर है । बस इसमें धैर्य एवं उत्साह पूर्वक गोता लगाने की आवश्यकता है । युक्तियों से यहाँ काम नहीं चलेगा । क्योंकि युक्ति बुद्धि का विषय है और योग बुद्धि से परे की चीज है । उसे प्राप्त करने के लिए एक बार अपने को खो देना होगा । अपना भौतिक नाम-रूप पूरी तरह मिटा देना होगा और "जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ" के सिद्धान्त पर विश्वास रखते हुए धैर्यपूर्वक इस योग सागर में कूद पड़ना होगा ।

(नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय)

ॐ तत् सत् ।

# योग विज्ञान

(पुस्तक परिचय)

(1) क्या आप आपने को जानते है कि आप कौन है और क्या हैं ? यदि नहीं जानते हों तो ध्यानयोग (Meditation) के द्वारा अपने असली रूप को जानने का प्रयत्न किजिये । जब तक अपने को नहीं जानेंगे तब तक आप ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अज्ञानी बने रहोगे, आनंद के भण्डार होते हुए भी दु:खी बने रहोगे और तीनों लोकों के ऐश्वर्य के स्वामी होते हुए भी अभावग्रस्त बने रहोगे ।

(2) आपका मन अद्‌भुत शक्तियों का भण्डार है किन्तु चंचल होने के कारण उसकी शक्तियाँ विखरी हुई हैं । यदि आप योग विज्ञान को समझकर ध्यानयोग द्वारा अपने मन को एकाग्र करने की कला को सीख जायें तो उन विखरी हुई शक्तियों को समेटकर उनका अपनी इच्छानुसार प्रयोग करते हुए उनसे अपना तथा समस्त विश्व का कल्याण कर सकते हैं ।

(3) यह चराचर ब्रह्माण्ड - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों (महाभूतों) की संरचना है । आपका शरीर भी इन्हीं तत्वों से बना है और इन्हीं से पुष्ट हो रहा है ।

(4) आपके शरीर में 72,000 नाड़ियाँ हैं जिनसे आपके सारे अंगों में रक्त और प्राणवायु का संचार होता है ।

(5) आपके शरीर के अलग अलग अंगों में 10 प्रकार की वायु प्राणवायु के सहयोग से अपना पृथक पृथक कार्य करती है । उन सबमें प्राणवायु ही मुख्य है । प्राणवायु आपकी जीवनी शक्ति है और उसका केन्द्र हृदय भाग है । श्वास लेने और श्वास छोड़ने की क्रिया एवं हृदय स्पन्दन का काम प्राणवायु ही करती है ।

इन सब बातों की विस्तृत जानकारी के लिये योग विज्ञान को अच्छी प्रकार से समझ लेने की आवश्यकता है ।

योग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण विज्ञान है कि इसे क्रियात्मक रूप से जीवन में अपनाकर मनुष्य इससे जो चाहे वही प्राप्त कर सकता है ।

पाश्चिमोत्तान आसन

धनुरासन

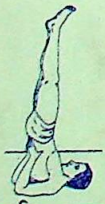

सर्वाङ्ग. आसन

पद्मासन